हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं
का
वैज्ञानिक इतिहास

शमशेरसिह नरूला

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्राक्कथन

किसी समाज विशेष की भाषा उसके समग्र इतिहास के प्रवाह का फल है और असख्य पीढियो के उसके कार्यरत और उद्यमशील जीवन की सामूहिक सृष्टि है। भाषा की जडें जन-जन की चेतना में गहराई तक पहुँची रहती है और जनता ही अपनी महान् निर्माण-प्रतिभा द्वारा समस्त भौतिक और आध्यात्मिक कृतियो के साथ-साथ भाषा का भी सृजन करती रहती है। इसलिए हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-क्रम तभी अच्छी तरह समझा जा सकता है जब इसका अध्ययन उत्तरी भारत में जन-साधारण की बोलचाल की भाषाओ और वहाँ के इतिहास और सस्कृति से अविभाज्य सम्बन्ध द्वारा किया जाय। हिन्दी के इतिहासज्ञो ने अपने अध्ययन को केवल भाषा तक सीमित रखकर आधुनिक हिन्दी के स्वरूप, उसकी वर्त्तमान स्थिति और उसके भारतीय सस्कृति और राष्ट्रीयता के सवर्धन में अशदान का अपूर्ण ज्ञान ही प्राप्त किया है। अभी तक हिन्दी के इतिहासज्ञ अर्द्ध शताब्दी पूर्व के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया' में प्रतिष्ठापित श्री ग्रियर्सन के इस सिद्धान्त का अनुगमन करते रहे है कि उत्तर भारत की आधुनिक भाषाएँ शौरसेनी और अन्य अपभ्र शो के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आई। परन्तु उसके बाद अपभ्र श आदि के बारे में जो बहुत सी जानकारी उपलब्ध हुई है उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती और न यह भाषाविज्ञान के उन नियमो से ही मेल खाता है जो इस समय सर्वत्र प्रामाणिक माने जाते है।

भाषाविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तो के प्रकाश में यह पुस्तक उत्तरी भारत की जनता द्वारा वास्तव में बोली जाने वाली भाषाओ और प्राचीन काल से उसके द्वारा सर्जित आध्यात्मिक और सास्कृतिक सम्पत्ति के अन्वेषण द्वारा आधुनिक हिन्दी के उद्गम और विकास का अध्ययन करती है। भाषा-शास्त्र के नियमो का अनुसरण करते हुए इसमें भारतीय भाषाविदो के इस मत का खण्डन किया गया है कि हिन्दी और उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाएँ बृहत्तर भाषाओ के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आई और यह धारणा प्रस्तुत की गई है कि यहाँ भी और देशो की भाँति, आधुनिक भाषाएँ छोटी-छोटी

बोलियो और उपभाषाओ के विलय से उद्भूत हुई --आदिम कबीलो और उपजातियो की भाषाएँ जातियो या क्षुद्र राष्ट्रो की भाषाओ में और जातियो और क्षुद्र राष्ट्रो की भाषाएँ आधुनिक टकसाली राष्ट्र भाषाओ में केन्द्रीभूत होती रहीं। इस तरह यह धारणा भी प्रकाश में आती है कि सस्कृत और प्राकृत भाषाएँ आम बोलचाल की भाषाएँ नहीं थी और न वे उत्तरकालीन बोलचाल की भाषाओ को ही जन्म दे सकती थीं। इस प्रकार गणो, कबीलो और आदिम जातियो की उन पूर्वकालीन बोलियो और उपभाषाओ की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है जिनसे वैदिक और शास्त्रीय सस्कृत और भिन्न-भिन्न प्राकृतो का सृजन हुआ, जो सस्कृत और प्राकृत सरीखी भाषाओ के गतिहीन हो जाने पर भी फलती-फूलती रहीं और भौतिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ जिनका विकास और परस्पर सगम होता रहा। इस तरह यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इन बोलचाल की आधुनिक उत्तरी भारतीय भाषाओ के साथ-साथ वहाँ के लोगो की एक महान् सास्कृतिक परम्परा के रूप में हिन्दी का कैसे उद्भव हुआ और इसका क्या महत्त्व है।

यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि आधुनिक भाषातत्त्व के प्रामाणिक सिद्धान्तो के प्रकाश में हिन्दी के इस ऐतिहासिक अध्ययन का मुख्य उद्देश्य किसी निर्णीत विचार-प्रणाली या किसी स्थिर मत को प्रस्तुत करना न होकर इस विषय में वैज्ञानिक पर्यालोचन को बढावा देना है तथा भारतीय भाषाओ के उद्गम और विकास के अध्ययन के लिए एक नवीन पद्धति की आवश्यकता पर ज़ोर देना है। हिन्दी के अध्ययन के लिए इसकी आवश्यकता आज केवल इसलिए ही नहीं, कि इस क्षेत्र में अभी तक जिज्ञासा-भाव और वितण्डावाद का अधिकार रहा है वरन् इसलिए भी, कि उत्तरी भारत की राष्ट्रीय और भाषा-सम्बन्धी समस्याओ का वैज्ञानिक अवबोध हमारी स्वतन्त्रता के सरक्षण के लिए आवश्यक है और यह हमारी सस्कृति के भविष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

शमशेरसिह नरूला

सूची

अध्याय १

विषय-प्रवेश

ब्रिटिश शासन से हमे विरासत में एक धारणा यह भी मिली है कि उत्तरीभारत के समस्त जनसमुदाय की एक ही बोलचाल की भाषा है। स्वतन्त्रता के पूर्व यह भाषा हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी इत्यादि विभिन्न नामो से पुकारी जाती थी। यद्यपि इस बात पर तीव्र मतभेद था कि उसका सस्कृत की ओर मुँह मोडा जाय या फारसी और अरबी के शब्द-भण्डार से सहायता ली जाय, फिर भी सबकी सम्मति यह प्रतीत होती थी कि उस समय जिसे हिन्दुस्तानी-क्षेत्र कहा जाता था, यह वहाँ की समस्त जनता की मातृभाषा थी। डॉक्टर ज़ेड० ए० एहमद द्वारा सम्पादित और इस शताब्दी के तीसरे दशक[1] मे प्रकाशित, "नेशनल लैंग्वेज ऑफ़ इण्डिया" के मतसग्रह से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। उसके लेखको में देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन के लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनमें से किसी ने भी इस बात पर शका प्रकट न की थी कि हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू ही उत्तर-भारतीय जनता की मातृभाषा थी। वास्तव में इसी के आधार पर ही उन्होने इसका समर्थन अखिल भारत की भाषा के रूप में किया और अगरेज़ी के स्थान पर इसे राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया।

जैसा कि हिन्दी भाषा और साहित्य के किसी भी इतिहास से विदित है उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उत्तरी भारत की सस्कृति की सरक्षक और उसका प्रमुख पात्र खडी बोली हिन्दी और उर्दू से कही अधिक व्रज अवधी, पजाबी और अन्य प्रादेशिक भाषाएँ थी। ब्रिटिश शासक हमारी स्वतन्त्रता का विनाश करने के बाद हमारा अतीत गौरव मिटाने और प्राचीन सस्कृति से हमें विमुख करने के लिए इन प्रादेशिक भाषाओ के अस्तित्व तक को अस्वीकार करने लगे। उन्होने उर्दू को बिहार से लेकर पजाब तक के सब प्रान्तो की सरकारी भाषा घोषित कर दिया और यह स्थापित करने की कोशिश करने

१ किताबिस्तान, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।

लगे कि समस्त उत्तरी भारत के कोटि-कोटि जनो की मातृभाषा उर्दू, हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही है।

ब्रिटिश शासको ने समस्त उत्तरीभारत के लिए बोलचाल की एकमात्र भाषा के बारे में इस विश्वास का सलग्नतापूर्वक सवर्धन किया। एक के बाद दूसरी सेन्सस रिपोर्टों में हिन्दी-क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओ को पूर्वी-हिन्दी या पश्चिमी-हिन्दी कहकर लिखा गया। इनमें से एक रिपोर्ट में प्रशासनिक सेवा के एक मुख्य अफसर श्री ईडी का उद्धरण दिया गया था कि हिन्दी की तथाकथित बोलियो अथवा उत्तरभारतीय प्रादेशिक भाषाओ का, जो फ्रास एव इग्लैंड जैसे विशाल क्षेत्रो में बोली जाती है, कोई भविष्य नही है और कालान्तर में इनका लोप हो जायगा। इस सम्बन्ध में मि० ईडी० कहते हैं—

"मेरे जैसे अवैज्ञानिक के लिए यह कहना यथेष्ट होगा कि ये देशी भाषाएँ विभिन्न भाषाएँ नही है, किन्तु एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ है। मैं देशी भाषाओ के चार क्षेत्रो में से तीन मे नियुक्त रहा हूँ और मुझे गोरखपुर के एक ग्रामीण और झाँसी के बनवासी से वार्तालाप करने में ठीक वही भेद मालूम हुआ जो (इग्लैंड में) डेवन के कृषक और अबरडीन के खेतिहर में। यदि आप एक के लिए सुबोध है तो धैर्य के साथ दूसरे के लिए भी सुबोध हो सकते हैं।"[1]

यह कहना अनावश्यक है कि 'धैर्य के साथ' कोई भी दो मनुष्य परस्पर बोध्य हो सकते हैं और भाषावार प्रतिवेशी प्रदेशो के लोगो में ऐसे धैर्य की बहुत ही कम आवश्यकता है। हिन्दी या हिन्दुस्तानी के लिए अवशेष भारत की भाषा के रूप में भी ऐसा ही दावा, उसे समस्त भारत की एक बोलचाल की भाषा न मानते हुए भी, किया गया था। हिन्दुस्तानी का ज़िकर करते हुए डॉ० सुनीति कुमार कहते है—

"इसका उसे धन्यवाद देना चाहिए, समस्त उत्तरीभारत के और दक्षिण के अधिकाश भू-भाग के भारतीय कम-से-कम प्रारम्भिक वार्त्तालाप मे अवरोध अनुभव नही करते है। बर्मा के किनारे से अफगान सीमान्त तक और काश्मीर तथा नेपाल से मैसूर तक यात्रा करने में बिना किसी प्रयत्न के उसका जो ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह पर्याप्त है और यह हिन्दी (हिन्दुस्तानी) दक्षिण के तीर्थ-केन्द्रो में भी समझी जाती है।"[2]

हिन्दुस्तानी से वास्तविक अभिप्राय उस बोली से है जो दिल्ली के

१. १९२१ की सेन्सस रिपोर्ट—भाग १, सख्या १।
२ सु० कु० चटर्जी—भाषा और भाषा की समस्या।

आसपास बोली जाती है और इसे प्रतिवेशी क्षेत्रो की पडी बोली के विपरीत खडी बोली कहा जाता है। किन्तु, अब इसे अतिसामान्य और सर्वसमावेशित अर्थ दिया गया है।[1] उसके विषय में केवल यही धारणा नही है कि वह आधुनिक हिन्दी और उर्दू को आच्छादित किए है किन्तु यह भी दावा किया गया है कि उसका प्रारम्भ हजार वर्ष पूर्व समरूपत बोलचाल की प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ से हुआ। समस्त उत्तरीभारत के लिए बोलचाल की भाषा के रूप में एक दीर्घकालीन और सन्तत इतिहास का दावा उसकी ओर से किया गया। उसके विषय में यह कहा गया कि वह पच्चीस-छब्बीस करोड लोगों की स्वाभाविक भाषा है और परिणामत समस्त भारत की राष्ट्रभाषा है।

जब राष्ट्रीय और प्रजातान्त्रिक आन्दोलनो का भारत में विकास हुआ तो हिन्दी की 'बोलियाँ' अथवा प्रादेशिक भाषाएँ, जैसी वे बहुधा पुकारी जाती हैं, जनता की वास्तविक बोलचाल की भाषा के रूप में आगे आई और उनके पक्ष में आवाज उठने लगी। उस समय के हिन्दी साहित्य-ससार के कुछ सर्वोच्च विचारशील व्यक्ति उन प्रादेशिक भाषाओ के अनुमोदन में चलाये गए 'जनपद आन्दोलन' में सम्मिलित हुए। यह आन्दोलन हिन्दी की बजाय प्रादेशिक भाषाओ की उन्नति के लिए प्रयत्नवान् हुआ। ग्रियर्सन की 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' जिसने इस शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरीभारत में कई स्वतन्त्र, यद्यपि परस्पर सम्बन्धित, बोलचाल की भाषाओ के अस्तित्व की ओर सकेत किया था, इस आन्दोलन का प्रेरणा-ग्रन्थ बना।

ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित भाषाओ की सख्या से सन्तुष्ट न होकर, इस विचारधारा के मानने वाले दूसरी सीमा पर पहुँच गए। दो सहस्राब्दियो से पहले विद्यमान यूथो और कबीलो के समुदायो—जनपदो—की गणना आधुनिक काल के भाषा-भूगोल जानने के लिए की गई। यद्यपि आधुनिक उत्तर-

१. सु० कु० चटर्जी 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' में लिखते हैं
"हिन्दी या हिन्दुस्तानी घरेलू-भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण पूर्वी पजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, उत्तरपूर्वी मध्य प्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना आदि कतिपय प्रदेशो में ही बोली जाती है; और यहाँ भी अधिकाश भागो में प्रादेशिक बोलियाँ और केवल शहरो में हिन्दुस्तानी बोली जाती है। फिर भी अपने नागरी हिन्दी एव उर्दू—दो शैलियो में हिन्दुस्तानी, बंगाल, आसाम, उडीसा, नेपाल, सिन्ध, गुजरात एव महाराष्ट्र को छोडकर बाकी समस्त भारत की सर्वमान्य भाषा है।"

भारतीय भाषाओ के उद्गम के ढूँढने का प्रयास ठीक ही महाभारत में वर्णित उपजातियो और गोत्रो में, पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा कालिदास की कृतियो में किया गया किन्तु फिर भी यह बात बिलकुल भुला दी गई कि उस काल और आधुनिक काल के बीच मे दो हजार वर्षो के इतिहास तथा भौतिक एव आध्यात्मिक प्रगति का अन्तर है। भाषाओ की विशेषताये और बोलियो की कुछ विभिन्नताएँ जो इस देश में सामन्तशाही आधार के अक्षुण्ण बने रहने के कारण अवशिष्ट रही उनको बढा-चढाकर दिखाया गया और इन क्षेत्रो के पुन प्राचीन नाम ढूँढे गए। महापण्डित राहुल सास्कृत्यायन ने बीस से अधिक ऐसे प्रदेशो या जनपदो की सूची उनके मुख्य केन्द्रो के साथ तैयार की। उनके विचार से इन छोटी इकाइयो को अलग गणराज्यो के रूप मे होना चाहिए—जैसे कुरु जनपद की राजधानी मेरठ और कौरवी उसकी भाषा हो, रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली और पचाली उसकी भाषा हो, इत्यादि।[1] यह आन्दोलन यद्यपि प्रारम्भिक रूप में बहुत प्रगतिशील था, किन्तु सामन्ती शक्तियो ने इससे अपनी स्वार्थपूर्ति देखी और वे इसके सरक्षक बन गए।

ऊपर निर्देशित दो चरमसीमाओ के बीच, हिन्दी भाषा का उद्गम और स्वभाव तथा वर्त्तमान बोलचाल की भाषाओ से उसके सम्बन्ध की समस्याएँ उलझकर रह गई और उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरीभारत की राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न और भी जटिल हो गए।

जैसा हम आगे देखेंगे, यह अप्रतिपादनीय है कि वह बीसियो बोलियाँ जो उत्तरीभारत के समूचे क्षेत्र में अन्तंग्रथित और अतिछादित रही है, अपने समस्त इतिहास में स्थिर और अपरिवर्तित बनी रही और वह एकीकरण की उन सब आन्तरिक एव बाह्य शक्तियो से अप्रभावित रही जो भारत में भौतिक विकास के साथ-साथ प्रबलतर होती गई। प्रश्न यह है कि क्या दो सहस्राब्दियो से अधिक जो एकीकारक एव सयोजनशील आर्थिक तथा सास्कृतिक प्रवृत्तियाँ निरन्तर कार्य करती रही है, उन्होने उस समस्त प्रदेश के लिए, जो अब हिन्दी-क्षेत्र कहलाता है, एक बोलचाल की भाषा को जन्म दिया है, अथवा कोई आधे दर्जन उन भाषाओ को जिन्हे आजकल प्रादेशिक भाषाओ के नाम से पुकारा जाता है और अगरेजी शासनकाल से पहले जिनका उत्तरीभारत में आधिपत्य था। अवधी, व्रज, आदि इन प्रादेशिक भाषाओ के अस्तित्व से किसी ने कभी

---

१. देखिए—मधुकर—जनपद आन्दोलन अक, अप्रैल-अगस्त १९४४ तथा शिवदानसिंह चौहान लिखित 'प्रगतिवाद', प्रकाशक प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद।

इन्कार नही किया है, यद्यपि आधुनिक हिन्दी से उनके सम्बन्ध और उनकी प्रकृति के विषय में मतभेद रहा है।

इन आधुनिक भाषाओ की प्रकृति और सम्बन्धो को जानने के लिए आवश्यक है कि भारत में भाषाओ के विकासक्रम तथा उन विभिन्न भाषाओ के उत्थान और पतन का, जिनके अभिलेख उपलब्ध हैं, अध्ययन किया जाय। इसके अतिरिक्त यह इसलिए भी आवश्यक है कि यह दावा किया जाता है कि हिन्दी और आधुनिक भारत की अन्य आर्यभाषाएँ उपजातियो और यूथो की पूर्वकाल की बहुत-सी भाषाओ के सश्लेषण से नही किन्तु प्राचीन अथवा मध्य-कालीन भारत की एक या दो भाषाओ के विपाटन से बनी है। ये सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएँ विशाल क्षेत्रो पर फैली हुई कही जाती है और आधुनिक हिन्दी क्षेत्र से कही बडे भूभाग की बोलचाल की भाषाएँ मानी जाती है। चूँकि आधुनिक हिन्दी की उत्तरीभारत के समस्त जनसमुदाय की बोलचाल की भाषा के रूप में मान्यता इन्ही पूर्व भाषाओ के तथाकथित विशालतर और बोल-चाल का होने पर आधारित है, अतएव आधुनिक हिन्दी के सन्तुलित ज्ञान की प्राप्ति, सस्कृत, प्राकृतो और अपभ्रशो के उद्गम और प्रकृति के परीक्षण के बिना नही हो सकती।

निश्चय ही आधुनिक हिन्दी भाषा के भूतकाल और वर्तमान का ऐसा परीक्षण उसके भविष्य के कार्यो की ओर अनिवार्य रूप से ले जाता है। हिन्दी नि सन्देह भारतीय जनता की मूल्यवान विरासत है, उसे आगे बढाने के लिए और भारतीय सस्कृति को उसके द्वारा पुन पुष्पित-पल्लवित करने के लिए हिन्दी भाषा का सर्वेक्षण करना आवश्यक हो जाता है।

अतएव हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उन सब समस्याओ का परीक्षण किया जाय जो उसके भूतकाल और वर्तमानकाल द्वारा प्रस्तुत होती है और जो उसके भविष्य से परमावश्यक सम्बन्ध रखता है।

अध्याय २

भारत का भाषा-सम्बन्धी प्राग् इतिहास

भारत के भापा सम्बन्धी प्राग् इतिहास का विवेचन आज इतना आसान नही जितना कि आज से पचास वर्ष पूर्व था। अठारहवी शताब्दी के अन्त में यूरोपीय भाषाशास्त्रियो के सस्कृत भाषा के ग्रीक, लेटिन आदि, से साम्य से अवगत होने के फलस्वरूप भारोपीय भाषाकुल के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। भारत, इरान, यूरोप आदि में इस कुल के जितने भी प्राचीनतम रूप उपलब्ध थे उनका अध्ययन करके उन सब भाषाओ के मूल-उत्स-स्वरूप को आद्य-भारोपीय भापा का नाम दिया गया और यह कल्पना की गई कि यह भाषा अविभक्त रूप में एक जन-समुदाय द्वारा बोली जाती थी। इस भाषा और उसके बोलने वालो को भाषाशास्त्रियो ने 'विरोस्' का नाम दिया। यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया कि इन्ही 'विरोस' जनो से विभक्त होकर भारतीय-इरानी जन दक्षिणी मध्य-एशिया और इरान के पठारो में आकर बसे और कुछ शताब्दियो के बीतने पर उनसे भारतीय-आर्य अलग होकर सप्तसिंधु या आधुनिक पजाब में आकर रहने लगे और इन्ही के द्वारा इस देश में आर्य-भाषा की उत्पत्ति हुई।

ऐसी कोई कालक्रमानुसार प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध नही जिसके आधार पर भारतीय-आर्य भाषा के भारतेतर प्राग् इतिहास का निरूपण हो सके। सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण जो प्रमाण मिला है वह यह है कि १५०० ई० पू० से आर्य पश्चिम एशिया में विद्यमान थे। यह इतिहासज्ञो की इस धारणा से भी मेल खाता है कि दूसरी सहस्राब्दि ई० पू० के पूर्वार्द्ध में प्राचीन जनो का एक बडी सख्या में स्थानान्तरण हुआ। इसके पश्चात् का प्रत्यक्ष साक्ष्य मीदी और पारसीक जनो की इरान मे उपस्थिति है जिसका प्रमाण दसवी शताब्दी ई० पू० के बाद के असीरी पुरा-लेखो से मिलता है। आर्य जनो का आगमन इरान में इससे बहुत पहले सम्भव नही जान पडता। भारतीय आर्य जनो के भारत में प्रवेशकाल के सम्बन्ध मे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता किन्तु वैदिक भाषा और पुरातन पारसीक में जो सादृश्य है उससे सहज

ही यह स्थिर किया जा सकता है कि उन दोनो—पारसीक-इरानियो और वैदिक-आर्यो—को पृथक् हुए थोडा समय ही हुआ था। इस आधार पर यह माना जाता है कि आर्य जनो का भारतागमन १७०० ई० पू० से लेकर १३०० ई० पू० तक हुआ और ऋग्वेद का सकलन १२०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक हुआ किन्तु यह काल-विभाजन बहुत ही अनुमानित है और इससे शताब्दियो का हेरफेर हो सकता है। इस प्रकार एक अविभक्त भारोपीय भाषा की कल्पना २५०० ई० पू० के लगभग की गई है। यह भाषा क्रमश भारत-इरानी तथा वैदिक रूप से होती हुई भारतीय-आर्य भाषाओ में परिणत हुई मानी जाती है।

यह बात असदिग्ध है कि ताम्रयुग में और उससे पहले भी भारोपीय कुल के मानव और भाषाओ का अस्तित्व बना हुआ था। ये प्राचीन भारोपीय जन अनिवार्यत यायावर थे। इनके एक मूल निवासस्थान का सिद्धान्त तो प्रस्तुत किया गया पर ऐसा कोई स्थान कभी भी सर्वमान्य न हो सका और आज भी पामिर और बाल्टिक सागर से लेकर ईरान के पठार और पञ्जाब की तलहटी तक अनेक स्थान इस सम्मान के दावेदार हैं।

गत सौ वर्षों में प्रागैतिहासिक आर्य और अनार्य भाषाओ के सम्बन्ध में मूल्यवान सामग्री उपलब्ध हुई है किन्तु उसको अभी तक भारोपीय भाषा के सिद्धान्त में ही समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। जब एशिया माइनर में बगोज़ क्योई के स्थान पर हित्ती और पूर्वी मेसोपोटेमियाँ में मितन्नी पुरालेखो में प्राग्-वैदिक आर्य भाषा के प्रमाण प्राप्त हुए, तो कई भाषा-वैज्ञानिक भारोपीय से भी पुरातन 'भारत-हित्ती' भाषा की कल्पना करने पर बाध्य हुए और इससे भारोपीय तथा हित्ती दोनो के प्रस्फुटन की धारणा प्रस्तुत की गई। जब चीनी तुर्किस्तान के समीप प्रागैतिहासिक टोचारियन भाषा के चिह्न प्राप्त हुए तो भारोपीय जनो के किसी और भी आद्य-भाग के वहाँ आ बसने का उल्लेख किया गया। फिर यह ज्ञात हुआ कि सस्कृत और ग्रीक में कई समानताएँ है जो अन्य भारोपीय कुल की भाषाओ में नही, इसी तरह शब्द-भण्डार की दृष्टि से सस्कृत तथा सलाव और बाल्टिक भाषाओ में अधिक सादृश्य के उदाहरण मिले और इस बात के भी प्रमाण मिले कि भारतीय-आर्य भाषाओ के व्याकरण सम्बन्धी कई नियम सेमिटिक भाषाकुल जैसे हैं। इन सब तथ्यो की किसी-न किसी प्रकार व्याख्या कर दी गई।

मोहेन्-जो-दडो की सभ्यता के प्रकाश में आने पर भारतीय-आर्य भाषाओ के इतिहासज्ञो के सम्मुख एक और भ्रान्ति उपस्थित हुई क्योकि उस समय

तक यह धारणा थी कि आर्य-जन एक असभ्य देश में आये जहाँ वह और उनकी सस्कृति और भाषा अपनी श्रेष्ठता के कारण विजयी हुई। आर्यो के भारतागमन के पूर्व की इस प्रौढ सभ्यता का ज्ञान प्राप्त होने पर वहाँ की मोहरो आदि में प्राप्त भाषा के सम्बन्ध मे बहुत वादविवाद छिडा। यद्यपि उस सभ्यता का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की समकालीन अन्य सभ्यताओ से असदिग्ध था तो भी उस भाषा को पढने में बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पडा और अभी तक उसके बारे में मतैक्य नही हुआ। फादर हिरास ने मोहेन्-जो-दडो की भाषा को आदि द्राविड भाषा बताया है[1] और बैडरिक हरोज़नी ने उसे आर्य कुल की भाषा सिद्ध किया है।[2] इसके अतिरिक्त जी० आर० हटर ने मोहेन्-जो-दडो लिपि को ब्राह्मी का आदि-रूप मानकर पढने का प्रयत्न किया है, सी० जे० गाड ने उसे सस्कृत भाषा के रूप में पढने की चेष्टा की है और डब्ल्यू नोर्मन ब्राऊन ने उसे ऐलम और सुमेर की समकालीन भाषा का ही एक रूप बताया है। ब्राहुई भाषा द्राविड कुल की है, इससे इस स्थापना को बल मिला कि मोहेन्-जो-दडो की सभ्यता के निर्माता आदि द्राविड थे। उनके आदि निवासस्थान के बारे में भी मतभेद है कुछ भाषाशास्त्री उन्हे लिबया से आया मानते हैं[3] कुछ पूर्वी भूमध्य सागरस्थित क्रीट आदि द्वीपो[4] से और कुछ का विचार है कि वह भी मध्येशिया से आये थे जहाँ उनके पूर्व में मगोल और पश्चिम में आर्यों का निवास था[5] और उसी समय के आदान-प्रदान के कारण मगोली और आर्य भाषाओ में द्राविड भाषा के शब्द सम्मिलित हुए। अभी विवाद चल ही रहा था कि मोहेन्-जो-दडो सभ्यता के निर्माता आर्य कुल से थे या आधुनिक द्राविडो के पूर्वज, यह स्थापना भी की जाने लगी कि भारतीय-आर्यों और द्राविड दोनो भाषाओ[6] का उद्गम एक ही आद्य भाषा है।

इसी प्रकार भारत के दूसरे प्राग्-आर्य भाषा कुल कोल तथा मोन-ख्मेर के सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी स्थापनाएँ प्रस्तुत की गई। अधिकतर भाषा

---

१ हेरास . इण्डिया दी एम्पायर ऑव दी स्वास्तिक।

२ बैडरिक हरोजरी एन्शेन्ट हिस्टरी ऑव वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड क्रीट।

३ तामिल कलचर, अप्रैल १६५४—जे० के० कोर्निलियस 'तामिल समस्या'।

४ एच० आर० हाल एंशेन्ट हिस्टरी ऑव दी नियर ईस्ट।

५. तामिल कलचर अप्रैल १६५४—आर० डेविड द्राविडो का आदि निवास-स्थान और प्रागैतिहासिक युग में उनके परिभ्रमण।

६. तामिल कलचर, जनवरी १६५३। नैलूर स्वामी ग्नानप्रकाशर भारोपीय और द्राविड़ो के सामान्य उत्पत्ति का भाषाशास्त्रीय प्रमाण।

शास्त्री इन कोल भाषाओ को आस्त्रिक कुल की बतलाते है जो प्रशान्त सागर में हवाई द्वीप नक फैली हुई है। इस मत के अनुसार यह कोल तथा मोन्-ख्मेर उपजातियाँ यहाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया से आईं। इसके विपरीत श्री हेवेसी विलमोश भारतीय कोल भाषाओ को यूराल अल्ताई भाषा-कुल की मानते है। दक्षिण-देशीय भाषा-कुल सम्बन्धी मत के प्रमुख सस्थापक श्री पातर एफ श्मिड ने भी यह स्वीकार किया है कि कोल भाषाओ मे कुछ यूराली तत्त्व अवश्य है।

मोहेन्-जो-दडो और अन्य प्राग्-आर्य भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे जो वादविवाद हो रहा है उसका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत नही होता। द्राविड तथा कोल भाषाओ के जो तत्त्व भारतीय आर्य भाषाओ में उपलब्ध है उनके सम्बन्ध में इन भाषाओ का विवरण देते समय उल्लेख किया जायगा। यहाँ एक प्रश्न अत्यन्त सगत प्रतीत होता है, जिसका विस्तार-पूर्वक पर्यालोचन भारतीय भाषाओ के उद्गम और विकास की समस्या से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। वह यह है, क्या समस्त भारोपीय जन आदि काल में एक अवि-भक्त भाषा बोलते थे, जैसा कि प्राय कहा जाता है, और क्या आदि भारतीय-आर्य जन जो भारत में शनैः शनै पाँच सौ से सहस्र वर्षो तक आते रहे एक भाषा बोलते थे या उनके विभिन्न यूथ, गण-गोत्र और कबीले अपनी-अपनी विभिन्न भाषाएँ बोलते थे ?

मानव भाषाओ की विभिन्नता और उनकी बहुरूपता उतनी ही अनि-वार्य है जितना कि मानव का सम्भाषी होना। यूथो, गणो तथा कबीलो मे बटे हुए आदि आर्य जन जो कई हजार वर्ग मील के कल्पित आद्य निवास स्थान में यायावर अवस्था में रहते थे सम्भवतः केवल एक भाषा बोलते हो यह तर्क-सगत नही मालूम होता, क्योकि भाषा-विज्ञान यह सिद्ध करता है कि भाषाओ का इस प्रकार विशाल रूप ग्रहण करना उस काल में सम्भव नही था जबकि जीवन का भौतिक स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था और जब नदी, नाले, जगल, पहाडियाँ जैसी प्राकृतिक बाधाएँ तक भाषा-सम्बन्धी विशेषताओ को उत्पन्न कर सकती थी। ऐसा होना इसलिए भी असगत जान पडता है कि उस समय अत्यन्त हीन भौतिक अवस्था के कारण भाषाएँ सुघड न थी और प्राथमिक अवस्था में होने के कारण उनके बहुत से अश नितान्त अस्थिर थे। आस्ट्रेलिया के आदि निवासियो की भाषाएँ इसी प्रकार छोटे-छोटे कबीलो की बोलियो में विभाजित पाई गईं। मध्य अमेरिका के आदि निवासी कही ऊँची भौतिक अव-स्था में थे, तो भी उनकी भाषाएँ खण्ड-खण्ड पाई गई थी। आदि भारोपीय जनो की एक अविभक्त भाषा की कल्पना का विरोध करते हुए श्री टी० बर्रो लिखते हैं -

"वास्तव में विस्तारपूर्वक तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदि भारोपीय भाषा जिसकी हम (सामान्य धातुओ की खोज करके) कल्पना कर सके हैं, विभिन्न बोलियो में पूरी तरह विभक्त थी 'आद्य-भारोपीय' की कल्पना बहुत सी सम्बन्धित बोलियो के समूह के रूप मे की जानी चाहिए जो कि यूरोप में एक विशाल भूभाग में फैली हुई थी। ये बोलियाँ आर्यो के वहाँ से स्थानान्तरण के पूर्वकाल में ही विभिन्न भाषाओ का रूप धारण कर चुकी थी।"[1]

अपने आदि निवास-स्थान में भारोपीय गण-गोत्रो या कबीलो की एक ही मातृभाषा होने का सिद्धान्त कितना निराधार है, इसकी कल्पना इससे हो सकती है कि सभ्यता के उस प्रारम्भकाल में भाषाएँ कम होने की बजाय नित्य बढती रहती थी। उत्पादन के साधन अति दरिद्र और अकिंचन होने के कारण किसी गण-गोत्र या यूथ के सदस्यो की सख्या की एक सीमा थी जिसके भीतर रहकर ही वे सब उत्पादन के सामूहिक कार्यो में सम्मिलित हो सकते थे। सदस्य-सख्या उससे बढ जाने पर उस गण-गोत्र के एक भाग को स्थानान्तरण करना पडता। वाहनीय उपकरण और कुछ ढोर-डगर ले वे नई चरागाहो की तलाश में निकल पडते और दूर जाकर नया गण बना जब वह कही अधिवास करते तो उनकी भाषा भी मूल भाषा से विच्छिद होकर शीघ्र ही नया रूप धारण करने लग जाती। श्रीपाद अमृत डांगे ने वैदिक साहित्य के अध्ययन से अनुमान लगाया है कि आदि गण-गोत्रो की सख्या ५०० सदस्यो से अधिक होना सम्भव नही।[2] प्राचीनतर भारोपीय गण-गोत्र, जिनके एक मूल निवास-स्थान में रहने की कल्पना की जाती है, इससे भी छोटे-छोटे होगे। इस सम्बन्ध में एफ० एंगल्स लिखते हैं, "कबीलो और उनकी उपभाषाओ का प्रसार वस्तुत साथ-साथ होता हैं। अभी कुछ समय पहले तक विभाजन द्वारा नये-नये कबीलो और उपभाषाओ की उत्पत्ति अमरीका में हुई है—और शायद आज भी यह निर्माण एकदम रुक नही गया। जब दो दुर्बल कबीले आपस में मिलकर एक होते हैं तो अपवाद स्वरूप यह देखने में आता है कि निकट सम्बन्धी दो उपभाषाओ का प्रयोग एक ही कबीले में होता है। साधारण रूप से इस समय अमरीका में कबीलो की सख्या २००० से कम नही •।"[3]

भारोपीय जन जहाँ कही भी गये उनकी भाषा विभिन्न कबीलो की भाषा में बंटी हुई थी। बोगाज क्योई के पुरा-लेखो में छ विभिन्न भाषाओ का

१ टी० बरो हिस्टरी ऑव दी संस्कृत लैग्वेज।

२. श्रीपाद अमृत डागे 'भारत आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास'

३ एफ एंगल्स 'परिवार की उत्पत्ति'।

पता लगा है।[1] जॉर्ज थामसन ने यूनान में आकर बसे 'भारोपीय' कुल के कबीलो की अनेक भाषाओ का उल्लेख किया है। होमर की कृतियो में उन्होने लगभग दर्जन ऐसी भाषाओ के तत्त्व खोज निकाले है।[2]

ईरान की प्राचीन पारसीक आदि भाषाओ में इतनी विभिन्नता थी कि उनकी लिपियाँ केवल व्यञ्जनमय होने के कारण बहुत सी पढी तक नही जा सकी। उपलब्ध प्राचीन इरानी भाषाएँ २७ विभिन्न लिपियो में है और इन भाषाओ की सख्या तो इससे भी अधिक है।[3] प्राचीन काल में जो भाषा सम्बन्धी विविधता विद्यमान थी वह बाबल के मीनार की अजील की कथा से भी प्रमाणित होती है। यह विविधता इतिहास-काल तक बनी रही यह इससे सिद्ध होता है कि जो तीन कबीले ज्यूट, हैंगिस्ट तथा होर्सा जो उत्तर-पश्चिम यूरोप के एक ही स्थान से एक ही वर्ष (४४६ ई०) में थेनट (ब्रिटेन) के द्वीप में पहुँचे, उनकी भाषाएँ इतनी भिन्न थी कि वैनरेबल बीड ने (७३० ई०) में उन्हे तीन विभिन्न राष्ट्र बताया था।[4]

भारतीय-आर्य भाषा के केवल एक वैदिक रूप की जो कल्पना की जाती है उसका खण्डन कई भाषा-शास्त्रियो ने किया है। उनका विचार है कि भारतीय-आर्य शब्द का सस्कृत के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाना ठीक नही है, क्योकि भारतीय-आर्य की उन बोलियो के अतिरिक्त जिन पर सस्कृत आधारित थी और कई बोलियाँ भी थी।[5] इसलिए भारतीय-आर्य शब्द का प्रयोग आदि की समग्र भारतीय-आर्य भाषाओ के लिए किया जाना चाहिए। सस्कृतेतर भारतीय-आर्य भाषाओ के प्रत्यक्ष अवशेष सुरक्षित नही रहे, तथा उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव भी न होता यदि मध्य भारतीय-आर्य भाषाओ में ऐसी बहुत सी सामग्री उपलब्ध न होती जिसकी वैदिक, पौराणिक या महाकाव्य-कालीन सस्कृत से व्याख्या नही हो सकती। इस प्रकार की सामग्री का सम्पूर्ण सग्रह कभी नही किया गया, किन्तु जो साक्ष्य उपलब्ध है वह यह प्रमाणित करने है कि आदि भारतीय-आर्य भाषा की सस्कृतेतर बोलियो का अस्तित्व भी कभी बना हुआ था।

यह स्थापना कि आदि भारतीय-आर्य भाषाएँ परस्पर सम्बन्धित होने

१ दे०, जे० ए० हैमर्टन, 'यूनीवर्सल हिस्टरी ऑव दी वर्लड, भाग १।'
२ जॉर्ज टोमसन 'हिस्टरी ऑव एन्शेन्ट ग्रीक सोसाइटी।'
३ जे० ए० आरबरी 'लीगेसी ऑव पर्शिया।'
४. देखिये, 'साइमन पोटर . अवर लैग्वेज।'
५ टी० बरों : हिस्टरी ऑव दी सस्कृत लैग्वेज।'

पर भी यूथो, कबीलो या गण-गोत्रो की भाषाओ में बँटी हुई थी और समस्त आर्य जन, जो भारत में लगभग एक हजार वर्ष तक प्रवेश करते रहे थे, एक ही भाषा नही बोलते थे, आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ के अध्ययन के लिए बहुत महत्त्व रखता है, क्योकि इससे यह स्थापना ही खण्डित हो जाती है कि यह आधुनिक भाषाएँ आदि भारतीय-आर्य भाषा के एकमात्र रूप वैदिक के विपाटन से क्रमश अस्तित्व में आई है। इस प्रकार हमारा ध्यान आदि भारतीय-आर्य यूथो, गणो और कबीलो की ओर जाता है जिनकी भारतागमन समय अपनी-अपनी विभिन्न बोली या भाषा थी। इन छोटी-छोटी भाषाओ के सहमिलन का क्रम कभी-कभी रुक जाने या परावर्त्तित होने पर भी, प्रगति करता रहा और इस तरह आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ का उद्भव हुआ।

आर्यों के भारतागमन के समय हम यहाँ जो भाषा-सम्बन्धी स्थिति देखते है उसका सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि अधिकतर आर्य जन यूथो, गण-गोत्रो और कबीलो में बँटे हुए थे। उनकी भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्बन्धित भाषाएँ थी। इसके अतिरिक्त यहाँ के आदि निवासियो के कई भाषाकुल थे। मोहेन्-जो-दडो और कोल जनो को छोडकर और भी कई भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताएँ और उलझने विद्यमान थी जिनका प्रमाण आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ में बहुत से ऐसे तत्त्वो से मिलता है जिनका उद्गम उन भाषाओ में भी नही खोजा जा सका।

अध्याय ३

संस्कृत भाषा का उद्गम और उसकी प्रकृति

आधुनिक हिन्दी की पूर्वज परम्परा की खोज केवल सौरसेनी अपभ्रंश और प्रथम सहस्राब्दी ई० की पूर्ववर्ती प्राकृत से ही नही की जाती है किन्तु सस्कृत से भी, जो ईसाकाल से पूर्व समस्त उत्तरीभारत की बोलचाल की भाषा मानी जाती है। हिन्दी भाषा के कई इतिहास तो भारोपीय के अध्ययन से प्रारम्भ होते है, जो आदितम आर्यो की तथाकथित सामान्य बोली थी, और इसके साथ उनके उस आदि निवासस्थान से भी जहाँ से वे इस बोली को दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० मे भारत मे अपने साथ लाये। यूरोप और एशिया के विभिन्न भाषा-समुदायो के अति प्राचीन आधारभूत शब्दो के साक्ष्य से, तथा प्राचीन पौराणिक गाथाओ की समानता से, एक सामान्य जन्मभूमि तथा सामान्य भाषा के सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है।

मैक्समूलर ने सबसे अधिक आर्य शब्द का भाषा-विज्ञान और जातीय प्रसग में प्रचलन किया था, किन्तु बाद में उन्होने इस पद का एक सामान्य जाति[१] के रूप में व्यवहार किए जाने का निषेध किया था, तिस पर भी यह धारणा स्थिर रही। इसका कारण यह था कि एक सामान्य भारोपीय भाषा का विचार बिना एक सामान्य जाति की भावना के सधारित नही हो सकता। इसके विपरीत यह निर्देशित किया गया है कि आर्य शब्द के अर्थ जोतना और हल चलाना है।[२] इसमें कोई जातीय गुणार्थ[३] नही है, तथा इसका तात्पर्य

१ मैक्समूलर "रक्त में कोई आर्यजाति नहीं है। वैज्ञानिक भाषा में 'आर्य' शब्द किसी जाति पर लागू नही होता। उसका तात्पर्य भाषा से है, इसके अतिरिक्त कुछ नही। यदि हम आर्य जाति की बात करें तो समझ लेना चाहिए कि उसका अर्थ आर्यभाषा के अतिरिक्त कुछ भी नही है"।

२ मैक्समूलर "मै केवल इतना कह सकता हूँ कि शब्द-विज्ञान की दृष्टि से आर्य का अर्थ यह लगता है—जोतने और हल चलाने वाला। आर्यों ने अपने लिए यह नाम यायावर जातियो के विरोध में धारण किया था।"

३ नेनीमाधव चौधरी—"सिन्धु जनता की जातीय सरचना के सम्बन्ध में किये

यायावर और पशुचारण से कृषक जीवन इंगित करना है। यह भी दिखलाया गया है कि वैदिक साहित्य में भी कही यह उल्लेख नही मिलता है कि आर्यों का भारत से बाहर कही निवासस्थान[1] था। ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि तामिल के आधारमूल शब्दो के अध्ययन से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि द्रविडो और आर्यो का एक सामान्य उद्‌गम[2] था। उसी के साथ-साथ यह भी दावा किया जाता है कि किसी समाज-विशेष के लिए उसकी बोली इतनी आवश्यक तथा इतनी स्वाभाविक है कि यदि आधुनिक भाषाएँ विस्मृत हो जायँ तो बहुत कुछ वैसी ही भाषाएँ फिर प्रकट हो जायँगी।[3]

पिछली कुछ शताब्दियो की भाषा-वैज्ञानिक खोजो ने उपरोक्त विरोधाभास को बहुत कुछ सुलझाया है। जे० बी० एस० हाल्डेन का मत है कि

गए हमारे अनुसन्धानो से यह प्रतीत होता है कि सिन्धु-धर्म को अनार्य या पूर्वआर्य समझना न्यायसगत नहीं है।" (सिन्धु-धर्म और सिन्धु-जनता—कलकत्ता रिव्यू, मई से सितम्बर १९५२); "यदि उपरोक्त दृष्टिकोण थोडा भी मान लिया जायगा तो यह समझ में आ जायगा कि सिन्धुकाल और ऋग्वेदिक युग में वास्तविक अन्तर नही है। जाति या सस्कृति में निरन्तर सातत्य है।" (ऋग्वेदिक जनता—कलकत्ता रिव्यू, सितम्बर १९५३ से फरवरी १९५४)।

१. बी० आर० अम्बेदकर "ऋग्वेद में दो शब्द आते है। एक है अर्य दूसरा आर्य। अर्य का व्यवहार ८८ स्थलो पर हुआ है। इसके अर्थ है (१) शत्रु (२) सम्मानीय व्यक्ति (३) भारतवर्ष का नाम (४) वैश्य स्वामी या नागरिक। आर्य का व्यवहार ३१ स्थलो पर हुआ है, परन्तु जातीय भावना में इसका व्यवहार कहीं नहीं हुआ है। (शूद्र कौन है ?)"

पी० टी० श्रीनिवासन ने उल्लेख किया है कि आर्य शब्द ३३ बार मन्त्रों में आया है जिनमें सब मिलकर १५३,९७२ शब्द हैं। उनका कथन है कि इस शब्द का ऐसा विरल व्यवहार होना इस बात का प्रमाण है कि आर्य आक्रमणकारी नहीं थे जिन्होंने देश जीतकर उसकी जनता का मूलोच्छेद कर दिया था, क्योकि एक विजयी जाति निरन्तर इन कृत्यों पर अभिमान करती है (मन्त्र-युगीन प्राचीन भारत में जीवन)।

२. निलूर स्वामी एस० ग्ननप्रकाशर द्राविडो और इण्डो यूरोपियन की सामान्य उत्पत्ति का भाषा-शास्त्रीय प्रमाण। तामिल कल्चर, त्रैमासिक, मद्रास—जनवरी १९५३।

३ आर० एस० विल्सन, "दि बर्थ आव लैग्वेज।"

प्राचीनकाल के समाजो द्वारा बहुतेरी धार्मिक विधियो और सस्कारो का उद्गम भाषा से पूर्व हुआ था, तथा मनुष्यो की बोली का विकास पिछले अस्सी से तीस हज़ार वर्षो में हुआ है[1] और इससे बहुत पूर्व मनुष्य उपकरण बनाने सीख, समाजो में सगठित हो चुका था। भाषा के इगित द्वारा उद्गम के सिद्धान्त ने विभिन्न कुलो की असम्बन्धित भाषाओ[2] में सादृश्य तत्त्वो पर ध्यान आकर्षित किया है। यह नितान्त असम्भव नही कि इस सिद्धान्त द्वारा जातीयता के अतिरिक्त आर्यकुल में सम्मिलित सम्बन्धी भाषाओ में सादृश्यता का कुछ निरूपण हो सके। यह सम्भव हो सकता है कि यायावर कबीलो की तरह रहने वाले प्राचीनकाल के आर्यजनो का कोई स्थायी प्राकृतवास न था, और एक उपमहाद्वीप और तृणवर्ष से दूसरे में विचरते हुए ये गण, यूथ और कबीले, भाषा-निर्माण के पूर्ववर्ती काल में अलग होते और बिछुडते रहे हो, और इसी समय सामान्य रीतियो और पौराणिक गाथाओ का प्रादुर्भाव हुआ हो।

इन प्रश्नो का विवेचन करना यहाँ सम्भव नही है। यह हमारे लिए वही तक सगत है जहाँ तक वे हमारी उस उपरिचर्चित धारणा में सहायता देते है कि एक सहस्राब्दी तक भारत में आने वाले आर्य एक ही सामान्य भाषा नही बोलते थे, जैसा कि साधारणतया स्थापित किया जाता है।

प्राचीन सस्कृत के अन्वय में अपनी आजकल की भाषाओ का अध्ययन हमारे लिए लाभदायक होता यदि वह वैज्ञानिक ढग से किया जाता, क्योकि आधुनिक भाषाओ के प्राथमिक तत्त्व अति-प्राचीनकाल में भी विद्यमान थे। भाषा अपने विशिष्ट बुनियादी शब्दसमूहो और व्याकरण पर स्थापित होकर युग-युगान्तर उन्नति की ओर अग्रसर होती रहती है और समाज के उत्पादी संभार की समृद्धि के साथ-साथ परिपूर्ण होती रहती है। उसमे अगोचर रूप से क्रमश नवीन तत्त्वो का समावेश और उसी के साथ प्राचीन तत्त्वो का निराकरण होता रहता है। भाषाओ में सघर्ष, उन्हे बोलने वाली विभिन्न जातियो में सघर्ष के विपरीत, कई शताब्दियो तक सकरण की दीर्घगण क्रिया के रूप

---

१. भाषा का उद्गम दि ओरिजिन आव लैंग्वेज—रैशनलिस्ट एनुअल—लन्दन १९५२।

२. प्रो० ए० जोहानेसन—दि ओरिजिन आव लैंग्वेज। और इसी लेखक का 'नेचर' लन्दन (जुलाई, १९५०) में छपा लेख "भाषा का इगित द्वारा उद्गम—छ असम्बन्धित भाषाओ का प्रमाण।"

मे चलता रहता है। विजयी भाषा अपने व्याकरण के चौखटे और बुनियादी शब्दसमूह को अक्षुण्ण रखती है, किन्तु साथ-साथ पराजित भाषाओ के प्रबल तत्त्वो का ग्रहण कर थोडा-बहुत परिवर्तित भी हो जाती है।

भाषा का उद्भव और विकास ऐतिहासिक परिस्थितियो पर सीधा निर्भर रहता है। मृतभाषाओ की सहायता से, जीवित भाषाओ के समुचित अध्ययन द्वारा, हम अपने इतिहास का विधायन ही नही यह भी समझ सकते कि उत्तरीभारत में फैली हुई बीसियो जातियो और उपजातियो की बोलचाल की भाषाएँ सहमिलन द्वारा आजकल की दर्जन से कम भाषाएँ कैसे बनी है। किन्तु ऐसा करने की बजाय आधुनिक भारतीय भाषाओ का मूल आदि-सस्कृत की एक या दो शाखाओ से खोजा गया जो कालान्तर मे तीन या चार प्राकृतो में विपाटित हुई। उन प्राकृतो में से एक सौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि वह वर्तमान पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्व पजाब, राजस्थान, मध्य-प्रदेश और गुजरात के क्षेत्र तक फैली हुई थी। फिर यह कल्पना की जाती है कि आधुनिक हिन्दी का विकास इन प्रदेशो में फैली अन्य आधुनिक भाषाओ की तरह, इस प्राकृत के परवर्ती रूप सौरसेनी अपभ्र श के विपाटन से हुआ। भारत की भाषाओ के उद्भव की यह प्रणाली सर्वमान्य भाषा-शास्त्रीय सिद्धान्तो से मेल नही खाती और इसके लिए कोई कारण भी नही दिया जाता।

भाषा-विज्ञान का यह माना हुआ मत है कि मानव-समाज के आदि काल में, जबकि समाज के भौतिक साधन बहुत अकिंचन थे, ऐसी भाषाएँ विद्यमान नही थी जो आजकल की भाँति उन विस्तृत भूखण्डो मे आम बोलचाल में आती हो, जिनमें उस समय बीसियो गण और कबीले अपना-अपना परिसीमित जीवन व्यतीत करते थे। आधुनिक विशाल राष्ट्र-भाषाओ का विकास विशालतर भाषा के विपाटित होने से नही हुआ, बल्कि इसके विपरीत यह गण-गोत्रो की भाषाओ का कबीले की भाषा में, कबीलो की भाषाओ का उपजाति और जाति की भाषा में और जातियो की भाषाओ का आधुनिक राष्ट्रभाषा में सहमिलन से हुआ।

आदि काल के गण-गोत्र, कबीले और उपजाति समुदाय, प्रकृति के प्रचण्ड विरोधी तत्त्वो के कारण, जिनसे सुरक्षा तथा द्वन्द्व के साधन अभी नितान्त अपूर्ण और स्वलप थे, एक-दूसरे से विच्छिन्न रहते थे। इसलिए उनकी बोलचाल की भाषा एक ही नही हो सकती थी। इसी प्रकार दासता के युग में विशाल भूखण्डो पर दूर-दूर तक फैले हुए महान् साम्राज्यो के अधीन सब

लोग एक ही मातृभाषा नहीं बोलते थे। किसी आर्थिक आधार पर न होकर ये साम्राज्य गण-गोत्रो और कबीलो के समूह-मात्र होते थे, जो अपनी-अपनी भाषाएँ बोलते थे और अपने-अपने ढग का जीवन व्यतीत करते थे।

लेटिन बहुधा रोमन साम्राज्य की 'विजयी भाषा' कही जाती है, उसका उल्लेख इस तर्क के समर्थन मे किया जाता है कि एक समय भारत में सस्कृत भी उसी पद पर आसीन थी। वास्तव में लेटिन, दो हज़ार वर्ष पूर्व इटली के मध्य में एक छोटे-से पृथक् इलाके की बोली थी। उसकी दो सहोदरा बोलियो—ओसकन और उम्रियाँ—के अवशेष अभी इस शताब्दी के प्रारम्भ तक[1] वर्तमान थे। जहाँ-जहाँ रोमन शासक गये थे अपने साथ इस भाषा को भी लेते गए, ताकि विभिन्न प्राजित प्रदेशो में वे ऐसे टापू बना सके जो उनकी अपनी प्रतिकृति के अनुसार हो। रोमनो के लिए नगरो के जीवन को फिर से इस तरह ढालना और उनमें इस तरह कृत्रिमता का लाना इसलिए आवश्यक था कि इसके द्वारा विजित जाति के एक भाग को साम्राज्य-शासन स्वीकार कराया जा सकता था और फिर इसे उनके द्वारा बाकी सब पर आरोपित किया जा सकता था। इस प्रकार लेटिन भाषा, जिसे रोमन साम्राज्य ने शासकीय माध्यम सचारित किया, जब दूर-दूर तक फैली तो वह इन प्रदेशो की आम बोलचाल की भाषा न थी। साम्राज्य के समाप्त होने के बाद, मध्ययुग के शासकवर्ग ने इसे अत्यन्त उपयोगी पाया। कैथोलिक चर्च ने इस भाषा को अपनाया जैसे कि उन्होने रोमन साम्राज्य की अनेक अन्य परम्पराओ को भी ग्रहण किया। सामन्ती चर्च ने भी यही ठीक समझा कि उसकी अपरिवर्ती और शाश्वत धर्म-विधियो तथा व्यवस्थाओ का प्रतिपादन और पारेषण मुख्यतः एक अपरिवर्ती भाषा द्वारा होना चाहिए। यद्यपि यह अधिकांश जनता के लिए अगम्य थी, फिर भी लेटिन विधि प्रशासन, पाण्डित्य और कुछ सीमा तक शासकवर्ग की पद्य की भाषा बनी रही और बाद मे यूरोप के विभिन्न देशो मे प्रमुख सामन्ती हितो का परमाधिकार हो गई। निस्सन्देह इसका बोलचाल की भाषाओ पर गहरा प्रभाव पडा। बाद में लेटिन के इस प्रभुत्व पर आपत्ति उठाई गई परन्तु यह तब हुआ जब सामन्त वर्गो के अधिकारो का विरोध होने लगा।

हम आगे देखेगे कि इतिहास के विभिन्न कालो में बहुधा बनावटी 'वर्ग-भाषाएँ' या अपभाषाएँ अलग से कैसे अस्तित्व में आ जाती है। ये एक

१ देखिए—ह्विटने लेंग्वेज एण्ड इट्स स्टडी।

२ प्रो० डब्लू० आर० लाकवुड—"लैंग्वेज एण्ड दि राइज आव नेशन्स"—साइन्स एण्ड सोसाइटी—संख्या १८, न० ३ ग्रीष्म १९५४।

या अधिक कबीले और जाति की भाषाओ की एक अलग शाखा के रूप में जन्म लेती हैं। इनका अपना कोई अलग से व्याकरण का चौखटा अथवा बुनियादी शब्दो का भण्डार नही होता है और न ही यह एक स्वतन्त्र भाषा होती है, अतएव समाज के जिस विशेषाधिकार वाले भाग ने इसका सृजन किया होता है उसी के साथ ही इसका वृद्धिरोध और परिसमाप्ति हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या सस्कृत भी लेटिन की तरह एक कृत्रिम 'वर्ग-अपभाषा' थी, या यह आम बोलचाल की भाषा थी जैसा कि बहुत से भारतीय और कई यूरोपीय विद्वानो का मत है। गोल्डस्टकर, कीथ और लीबिच का मत है कि पाणिनि के समय में (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०, बुद्ध के तुरन्त बाद) जब आदि-प्राकृत साहित्यिक भाषाओ के रूप मे उभर रही थी तब सस्कृत एक शिष्ट वर्ग की बोलचाल की भाषा[1] थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी के अध्ययन से डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[2] भी इसी निर्णय पर पहुँचे है और उन्होने सस्कृत को शिष्ट व्यक्तियो की प्रामाणिक भाषा कहा है, जिसे वे बिना सीखे ही ठीक-ठीक बोल सकते थे। इस विषय पर लम्बी विवेचना करते हुए डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती कहते हैं "सस्कृत केवल यास्क और पाणिनि के समय में ही बोलचाल की भाषा न थी किन्तु हमारे पास यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि वह बहुत बाद में, अर्थात् कात्यायन और पातञ्जलि के समय तक, वैसी ही बनी रही। अपने साहित्यिक विकास के उर्वरा युग में भी वह नि सन्देह बोलचाल की भाषा थी यद्यपि उसका चलन सम्भवत उच्चश्रेणी के पठित समाज ही तक सीमित था[3]।"

यह तर्क कि सस्कृत शिष्ट वर्ग की अपनी अलग बोलचाल की भाषा थी, युक्तिसगत नही है। ईसा सवत् से पूर्व भारत में रहने वाले ब्राह्मण तथा शासकवर्ग के शिष्ट सदस्यो की अपनी कोई ऐसी पृथक् मातृभाषा नही हो सकती जिसकी अलग ही व्याकरण की पद्धति और मूल शब्द हो क्योकि किसी समाज के शिष्ट अल्पसख्यको की इस प्रकार की बोलचाल की अलग भाषा होना नितान्त असम्भव है। समाज में आदान-प्रदान करने और रहने-सहने के साधन के रूप में भाषा तभी उपयोगी हो सकती है जब इसका सम्पूर्ण

१ ए० बी० कीथ—हिस्टरी आव सस्कृत लिटरेचर।

२ डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल : इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि—लखनऊ वि० वि०।

३ प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती दि लिंग्विस्कि स्पैक्युलेशन आव दि हिन्दूज़—कलकत्ता वि०।

समाज और सब वर्गों की साधारण बोलचाल की भाषा होकर प्रयोग हो। अपने समस्त सदस्यो में एक सामान्य भाषा के बिना कोई समाज बना नही रह सकता। यदि एक जाति में कुछ विशेषाधिकारो वाले वर्ग तथा सामान्य वर्ग की अलग-अलग भाषाएँ हो तो शासक वर्ग के लोग शोषण नही कर पायेंगे, समस्त उत्पादन क्रियाशीलता नष्ट हो जायगी, आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा और वह तमाम तन्तु जो समाज को बाँधकर रखते हैं टूट-फूट जायँगे।

चूँकि अपने अलग-अलग शब्द भण्डार और व्याकरण की पद्धति को लेकर विशेषाधिकारो वाले तथा सामान्य वर्ग के लिए दो विभिन्न बोलचाल की भाषाएँ नही हो सकती, इसलिए सस्कृत एक कृत्रिम भाषा ही हो सकती है जिसका आधार उस काल के समस्त समाज की सामान्य भाषा की व्याकरण-पद्धति और शब्द भण्डार पर हुआ।[1] जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से स्वतन्त्र, शिष्ट वर्ग की अपनी अलग बोलचाल की भाषा का अस्तित्व असम्भव होने के कारण सस्कृत केवल सभाषणेतर अपभाषा ही हो सकती है जो उस काल की एकमात्र बोलचाल की भाषा की प्रशाखा होकर अस्तित्व में आई। यह तथ्य कि "शिष्टजनो ने साहित्यिक कृतियाँ अपनी विशिष्ट वर्ग-भाषा में की और उसी के माध्यम द्वारा आपस में विचार विनिमय किया," यह स्थापित नही करता कि वह उनमें से किसी व्यक्ति की मातृभाषा थी, अथवा उस वर्ग के बालक प्रथम शब्द उसी भाषा में बोलते थे।

यहाँ उन युक्तियो की विवेचना करने की आवश्यकता नही है जिन के आधार पर सस्कृत को आम बोलचाल की भाषा सिद्ध किया जाता है, जैसे पाणिनि का अपने सूत्रो में प्रश्नोत्तर, प्रशसा और कुत्सा, दूर से पुकारने, आज्ञा लेने, अभिवादन, प्रत्यभिवादन, मानसिक सर्न्तजन, विमर्श, आख्यान, आमन्त्रण, शीघ्रता इत्यादि के लिए शब्दरूपो का उल्लेख तथा पातञ्जलि द्वारा एक आख्यान का वर्णन जिसमे एक सारथि केवल सस्कृत में वार्तालाप ही नही करता है किन्तु एक वैयाकरण से प्रजित्र शब्द की व्युत्पत्ति पर विवेचना भी करता है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि ये पद एक अपभाषा के लिए भी उतने ही आवश्यक है जितने बोलचाल की भाषा के लिए, और यह भी कि सस्कृत ग्रन्थो

१ जे० वेंद्रीएज विशेष भाषाएँ सामाजिक भेदो का परिणाम है। सिद्धान्त रूप से वे उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि बोलियाँ, किन्तु उनका जन्म सामान्य भाषा के गर्भ ही से होता है और उसी से वह अपना पोषणतत्त्व लेती रहती है।

की उक्तियो को बिना छानबीन किये स्वीकार न कर लेना चाहिए। रामायण के अनुसार हनुमान ने सीता को सन्देश शुद्ध सस्कृत ही में दिया था।

एक तर्क जो बहुधा दिया जाता है और जो विशेपकर विचारणीय है यह है कि पाणिनि की विशाल व्याकरण प्रणाली कभी अस्तित्व ही मे न आती यदि सस्कृत उस काल (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०) मे बोलचाल की भाषा न होती।[1] पाणिनि की व्याकरण-प्रणाली को बोलचाल की सस्कृत से इस तरह अचानक ही कैसे निष्कृष किया जा सका यह कल्पनातीत है। वास्तव में व्याकरण एव ध्वनि के इतने जटिल नियमो द्वारा जकडी हुई कोई भाषा बोलचाल की भाषा हो ही नही सकती और न ही वह किसी की मातृभाषा हो सकती है, बेशक वह कितना ही विद्वान् क्यो न हो।

व्याकरण वाक्य-रचना और आकार-विज्ञान के स्वाभाविक नियमो के निराकरण के ऐसे क्रम का फल है जो मानवीय चिन्तन द्वारा बहुत समय तक निरन्तर होता रहा। व्याकरण के नियमो की सार निकालने का यह क्रम उस समय के तुरन्त बाद ही शुरू हो गया, जब शत-शत वर्षों से सृष्ट हो रही समाज की सामूहिक साम्कृतिक परम्परा का शोधन और सम्पादन ऋग्वेद के रूप में हुआ। पाठशुद्धता को बचाये रखने के लिए रचे गये विशेष ग्रन्थो—प्रतिशाख्य और अनुक्रमणी—में सन्धी और ध्वनि के नियमो का प्रतिपादन किया गया। शीघ्र ही निघण्टुओ द्वारा कोषरचना का प्रारम्भ होने लगा, जिन पर यास्क के भाष्य में व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न उठाये गए है। बाद में सार निकालने का यह क्रम और भी आवश्यक और परिष्कृत होता गया जैसे-जैसे जनता की भाषा वेदो की भाषा से दूर होती गई। यह आदि भारतीय-आर्य भाषाओ के विकास के स्वाभाविक क्रम से ही नही हुआ किन्तु कई अनार्य तत्त्वो के आम बोलचाल की आर्य भाषाओ मे सविलय द्वारा भी हुआ। सस्कृत व्याकरण की वैश्लेपिक रीतियाँ, निरुक्त में प्रतिपादित व्युत्पत्ति के सिद्धान्त और धातुओ की विस्तृत सूची क्रमश सर्वांगपूर्ण और परिदृढ होती गई। यास्क के पहले १७ निरुक्त के लेखको का उल्लेख है और वह स्वय पाणिनि का पूर्ववर्ती था। धीरे-धीरे व्याकरण केवल धर्मग्रन्थो की भाषा की प्राप्ति और परिरक्षण का माध्यम ही नही रहा, किन्तु अध्ययन करने के लिए एक विज्ञान का रूप धारण कर गया, जिसमें शब्द, वाक्, नाद इत्यादि को देवत्व के पद पर आसीन कर दिया गया और उनकी परिकल्पना तत्त्वज्ञान के रूप मे होने लगी। यह क्रम पाणिनि के काल तक निरन्तर चलता

१ प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : दि लिंग्विस्टिक स्पैक्युलेशन आव दि हिन्दूज—कलकत्ता वि०।

रहा, यहाँ तक कि जैसा कोलब्रुक ने इगित किया है, यह "अपवादो और सीमाओ की अन्तहीन खोज बन गया जो साधारण नियमो को इतना उलझा देता कि विद्यार्थी की दृष्टि में उनके अभिप्रेत सम्बन्धन और पारस्परिक अनुषग लोप हो जाते। वह एक दुर्गम भूलभुलैया में खो जाता और इस भूलभुलैया की कुन्जी उसके हाथ से बराबर निकल जाती।"

दाते (इटली के कवि—१२६५-१३२१ ई०) ने लेटिन और ग्रीक भाषाओ को व्याकरण (ग्रामर) नाम से पुकारा है और सस्कृत भाषा का वर्णन भी इसी नाम से भले ही किया जा सकता है। यूरोपीय इतिहास में सर्वप्रथम दाते ने ही अपनी 'दि वुलगारी इलोक्यून्टिया' में भाषा सम्बन्धी सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक प्रश्न उठाये। दाते के विचारानुसार लेटिन एक उपसृष्ट बल्कि कृत्रिम भाषा अथवा व्याकरण है जो प्राचीनकाल मे जीवित भाषाओ में से, लिखित शब्दो को नियमबद्ध करने और उन्हे स्थायित्व देने के लिए बनाई गई। दाते ने रोमन लोगो की लेटिन के समान ग्रीक लोग की ऐसी ही व्याकरण का उल्लेख भी किया।[1]

'सस्कृत' शब्द के उद्गम के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस कृत्रिम भाषा को 'व्याकरण' कहना कितना उचित है। सस्कृत में वाक्य का विश्लेषण वाक्य के वर्गीकरण पर ही समाप्त नही होता है, किन्तु इसके भागो के अन्तिम तत्त्वो तक चलता है, यथा प्रकृति अर्थात् शब्दमूल और प्रत्यय तक। यह विश्लेषण जिसे सस्कार कहा जाता है, सस्कृत व्याकरण का मूलभूत सिद्धान्त है और प्राचीन वैयाकरणो की भाषा को दिये हुए प्रसिद्ध नाम सस्कृत का समाधान करता है।[2] पवित्र ग्रन्थो की भाषा का नाम सस्कृत तभी हुआ जब सस्कार पर आधारित व्याकरण की इस पद्धति का पूर्णरूप से विकास हुआ।

वेदो की साहित्यिक भाषा छन्दस् अथवा नैगम कही जाती थी जबकि इसके विपरीत बोलचाल की भाषा को लौकिक कहा जाता था। यास्क के निरुक्त और पाणिनि के अष्टाध्यायी में इस बात के प्रर्याप्त प्रमाण है कि वेदो की साहित्यिक भाषा में और जनता की बोलचाल की भाषा में बहुत पहले से भेद किया गया था। पातजलि ने इस भेद का उल्लेख अपने 'शब्दानुशासन' के प्रारम्भ में किया है और एक स्थान पर कहा है वैदिक शब्द रूढिबद्ध है और

---

१ डब्लू० आर० लाकवुड · लैंग्वेज एण्ड राइज आव नेशन्स—साइस एण्ड सोसायटी—भाग १८ न० ३–ग्रीष्म १९५४।

२ प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आव दी हिन्दूज।

वेदो द्वारा ही सीखे जा सकते हैं और साधारण प्रयोग के शब्द प्रचलित बोल-चाल से लिए जा सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'छन्दस्' जो ऋग्वेद की भाषा कही जाती थी, भारत के उत्तरपश्चिम में बसने वाले आदि आर्य कबीलो की गण-भाषाओ के मिश्रण से बनी थी।[१] यह क्रम अत्यन्त दीर्घकाल तक जारी रहा होगा और उसके द्वारा एक या दो केन्द्रीय स्थित अथवा सख्या में अधिक बोली जाने वाली गण-भाषाओ से व्याकरण का चौखटा और आधारभूत शब्द भण्डार उपलब्ध हुए होगे और आसपास की अन्य गण-भाषाओ द्वारा यह समृद्ध और ईषत्परि-वर्तित हुई होगी। आम बोलचाल की न होने पर भी ऐसी सामान्य भाषा को प्राय सब समझ सकते होगे क्योकि इसमें अधिकतर उन धातुओ और शब्दो को ही ग्रहण किया गया होगा जो आसानी से अनेक भाषा-क्षेत्रो में समझे जा सके।

होमर की इलियड और ओडस्सी की भाषा (९००-८०० ई० पू०) के विषय मे जार्ज थामसन कहते हैं "यह कविता की भाषा, ग्रीस की उपभाषाओ, बोलचाल की अथवा साहित्यिक, से भिन्न थी। देखने में यह मुख्यत इयोलिक और आयोनिक की मिश्रित भाषा है, जिसमें आरकेडो और सीपरियन पर्याप्त मात्रा मे है और कही एटिक भी है।"[२] भारत में आर्य भी "गण-गोत्रो के रूप में आये और उनकी भाषाओ में गण-गोत्र सम्बन्धी भिन्नताएँ थी[३]"। आदि वैदिक सस्कृत का विकास इन्ही आर्य गण-गोत्रो और कबीलो की भाषाओ के सम्मिलन से उनकी प्रार्थनाओ और मन्त्रो की सम्भाषणेतर भाषा के रूप में

१. प्राचीन गण-गोत्रो (और उनकी भाषाओ) के सम्मिलन के उदाहरण वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में भरत गण का सुदास के नेतृत्व में पुरुओ से सघर्ष का वर्णन किया गया है किन्तु बाद में इन दोनो गणो के नाम नहीं मिलते और उनके स्थान पर कुरुओ का उल्लेख है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार कुरुक्षेत्र में बसे इस कुरुगण की भाषा ही सस्कृत का आधार बनी (मध्य देश की साहित्यिक भाषा—मधुकर अप्रेल-अगस्त १९४४)। इसके विपरीत अफगान अकेडेमी आव हिस्टरी ने पश्तो और सस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि सस्कृत का उद्भव सिन्धु नदी की पश्चिमवर्ती भूमि में हुआ किन्तु इस सम्बन्ध में जो प्रमाण अफगानिस्तान सरकार द्वारा प्रकाशित 'आर्याणा' में दिये गए है वे अपर्याप्त है।

२ जार्ज थामसन स्टडीज इन एन्श्यट ग्रीक सोसायटी।

३ सु० कु० चटर्जी इन्डो आर्यन् एण्ड हिन्दी।

हुआ। ऋग्वेद की भाषा का उल्लेख करते हुए अडोल्फ केगी कहते हैं, "यह अत्यन्त प्राचीन बोली है, समस्त व्याकरण-पद (स्वराकन, ध्वनिविज्ञान, शब्द-रूप, धातुरूप, वाक्य-रचना) और शब्द-भण्डार में स्मृतियो, महाकाव्यो, नाटको की उत्तरकालीन कृत्रिम भारतीय भाषा सस्कृत से, जिसकी भिन्नता होमर की भाषा और एटिक की तुलना में कही अधिक है। एक अर्थ में यह बोली भी कलात्मक अथवा काव्य-भाषा है जिसका विकास गीतकारो के सगो तथा मण्डलो में हुआ।"[1]

यह हो सकता है कि कुछ वैदिक मन्त्र और ऋचाएँ गणो और कबीलो की उपभाषा में रचे गये हो[2] किन्तु इन अतिप्राचीन मन्त्रो की भाषाएँ भी ठेठ बोलचाल की भाषाओ जैसी होगी इसमें सदेह है क्योकि जब तक यह सामान्य बोलचाल की भाषा की तुलना में अधिक लययुक्त और पुरातन न हो तब तक उनमें चमत्कार और अभिमन्त्रित करने और उच्चकोटि की स्वरोत्पन्न की शक्ति हो ही नही सकती थी,[3] जो मन्त्रो और उस समय के काव्य के अन्य रूपो का मुख्य उद्देश्य था और जो सामुदायिक श्रम के लिये ही नही, अनुकरण द्वारा भौतिक जगत् में परिवर्तन की कल्पना और चेष्टा करने के लिए भी आवश्यक था। यथार्थ पर माया और कल्पित को आरोहित करना ही काव्य का प्रकार्य था क्योकि यह अभी इन्द्रजाल से मुक्त नही हुआ था। उस समय गणो, और कबीलो का प्रत्येक सदस्य मन्त्रस्रष्टा अर्थात् कवि होता था क्योकि भौतिक उपकरण अत्यन्त हीन होने के कारण इसके बिना प्रकृति की अथाह और प्रचण्ड शक्तियो का सामना किया ही न जा सकता था। इसी प्रकार इन

---

१. अडोल्फ़ कैगी . स्टडीज़ इन ऋग्वैदिक इण्डिया।

२. ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबल की रचना इसी प्रकार कबीलो की अनेक भाषाओ में हुई। बाइबल शब्द 'बिब्लोज़' पुस्तक की बहुवचन है और इसका अर्थ पुस्तकें है। बाइबल की भाषाओ के लिए प्रयुक्त शब्द पोलिग्लोट का अर्थ ही अग्रेजी आदि भाषाओ में "बहुभाषी" पड गया है।

३. वाक् में ऐन्द्रजालिक शक्ति का निर्देशन ऋग्वेद की इन ऋचाओ में दिखाई पडता है जहाँ वाक् ने अपने विषय में कहा है

"मै सम्पत्तियो की सकलनकर्ता रानी हूँ। मै प्रज्ञा हूँ, और उनमें प्रथम जिसे यज्ञभाग्य मिलना चाहिए। देवो ने मुझे बहुरूप बनाया है, मै कई स्थानो पर खड़ी होती हूँ, कई वस्तुओ में प्रवेश करती हूँ मै वायु के समान सास लेती हूँ, आकाश से आगे, पृथ्वी से आगे, मेरा सब पर प्रभुत्व, अपनी ही शक्ति से मै ऐसी हूँ।"

गणो और यूथो की अपनी-अपनी काव्य शब्दावली भी होती होगी क्योकि इस के बिना उनकी बोली उच्चस्तर पर पहुँचकर मन्त्रो की शक्ति प्राप्त ही न कर सकती थी। किन्तु गणो की यह काव्यभाषा या शब्दावली कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक थी क्योकि उस युग में काव्य प्रकृति से सघर्ष और उत्पादन का मुख्य वाहक होने के कारण समाज के अग-अग में ओतप्रोत था। बाद में जब समाज मे वर्ग उत्पन्न होने लगे काव्य का मायामय तथा यन्त्र-मन्त्र का प्रकार्य कम होने लगा। जैसे-जैसे कविता ने समग्र समाज की सामान्य आकाक्षाओ को अभिव्यक्त करना बन्द कर दिया वैसे-वैसे यह उत्पादन कार्य से दूर होती गई और समाज के प्रत्येक सदस्य का साधन होने की बजाय यह कुछ श्रेणियो में सीमित हो गई, जिनका व्यवसाय ही इन कविताओ का पाठ, विस्तार तथा प्रपच होता गया।

अब प्रश्न यह है कि ऋग्वेद जिसकी सामग्री की रचना युग-युगान्तर तक होती रही अपने वर्त्तमान रूप में कब सकलित हुआ, उसकी भाषा कैसे अस्तित्व में आई और उसका उत्तरकालीन वैदिक साहित्य की भाषा से क्या सम्बन्ध है। ऋग्वेद सहिता की सामग्री सचयकाल से पूर्व तरल मन्त्रो के विशाल समुदाय के रूप में शत-शत वर्षों तक व्याप्त रही होगी। मैकडानल के कथनानुसार "ऋग्वेद में प्राप्त सब मन्त्रो के अस्तित्व में आने के लिए सैकडो वर्षों के समय की अपेक्षा हुई होगी" और विण्टरनिल के मतानुसार "सबसे पहले मन्त्रो की रचना और ऋग्वेद सहिता की पूर्ति के बीच में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हुई होगी"। सुनीति कुमार चटर्जी के विचार में "यह बिलकुल स्पष्ट है कि गायत्री तथा कुछ अन्य छन्दो का विकास ईरान में सम्भवतः मेसोपोतामियाँ में ही हो चुका था।" हमें ऋग्वेद सहिता के प्रथम मन्त्रो के रचयिता ऋषी मधुच्छन्दस् के काल का पता नही चलता और न विश्वामित्र का ही जिन्होने प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र की रचना की थी। सकलन काल से चार पाँच सौ वर्ष पहले यदि उनकी रचना हुई होगी तो उसका रूप आज के उपलब्ध पाठ से बहुत भिन्न होगा"।[1]

समाज में वर्गों के उत्पन्न होने के प्रारम्भिक काल में या उससे पूर्व सास्कृतिक उपकरणो की सृष्टि का प्रकार्य समग्र समाज में सामूहिक रूप से होता था। इसलिए एक व्यक्ति विशेष का किसी पुरातन या पाश्चात्य ऋग्वेद मन्त्र का रचयिता होने की कल्पना ही निराधार है। किन्तु यह निस्सन्देह है कि जिस भाषा में ऋग्वेद मन्त्रो का सामूहिक सृजन हुआ वह ऋक्सहिताओ की

१ सु० कु० चटर्जी . इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी।

भाषा से भिन्न थी। इस ऋक्‌संहिता युग के पूर्व की आदि-वैदिक भाषा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यद्यपि इसके कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं। अधिकतर ऋक्‌मन्त्रों का सृजन प्राग्वैदिक भारतीय समाज के वर्गों में खण्डित होने के पूर्व तथा उसके प्रारम्भिक काल में हुआ। उस समय यह मन्त्र सामूहिक श्रम के संस्कार ही नहीं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संभार और साधन भी थे। राधाकुमुद मुकर्जी के इस कथन से, कि ऋग्वेद का दृष्टिकोण धनिक वर्गों के लिए है, उसमें सार्वजनिक धर्म जो जनता के लिए उपयुक्त हो, कम ही मिलता है,[1] असहमत होने पर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय-आर्य समाज में वर्ग-विभाजन के स्पष्ट चिह्न ऋक्‌संहिता में प्राप्त हैं। उस समय काव्यसृजन और मन्त्रपाठ, समग्र समाज के सामूहिक श्रम द्वारा, प्रत्येक गण-सदस्य के जीवन का अंग न होकर एक श्रेणी विशेष की संपत्ति होकर रह गया था, जिसके फलस्वरूप व्यवसाय रूप में इन मन्त्रों का उच्चारण और शास्त्रकरण होने लगा था। यह भी हो सकता है कि ऐसी श्रेणियाँ एक से अधिक हों जो विभिन्न रूपों में इस सांस्कृतिक परिपाटी का संरक्षण तथा व्यवहार करती हों। इन्हीं में से किसी श्रेणी द्वारा अनेक गणों या कबीलों की भाषाओं के सम्मिश्रण से वैदिक भाषा का उदय हुआ होगा, जो कभी भी आम बोलचाल की भाषा तो न थी, किन्तु प्रारम्भ काल में जिन बोलचाल की भाषाओं पर आधारित थी, उनके वह बहुत समीप थी, और यह सामीप्य उत्तरोत्तर मिटता गया। इस सम्बन्ध में डॉ० सुनीती कुमार लिखते हैं कि संस्कृत देश के किसी भाग की भी वास्तविक गृहभाषा नहीं थी। प्रारम्भ में आर्यों की कई बोलियों में से कलात्मक प्रयोजन के लिए एक साहित्यिक भाषा का विकास हुआ जिसमें कवियों ने अपने देवताओं की स्तुतियों की रचना की और जिनका १००० ई० पू० के थोड़े समय बाद वेदों के रूप में संकलन हुआ।[2]

ऋग्वेद की यह संभाषणेतर साहित्यिक भाषा बोलचाल की न होने पर भी शुरू-शुरू में गणों और कबीलों की भिन्न-भिन्न ठेठ बोलियों के इसलिए भी बहुत समीप थी कि ऐसी कृत्रिम भाषा का अपना भिन्न व्याकरण सम्बन्धी ढाँचा और विशिष्ट मूल शब्द भण्डार नहीं होता, बल्कि इसका उत्पन्न एक-दो बोलियों के व्याकरण सम्बन्धी ढाँचे और बुनियादी शब्दावली के स्कन्ध पर अन्य बोलियों के प्रबल और श्रेष्ठ तत्त्वों का पैबन्द लगने से होता है। यह विधि जो दीर्घकाल तक होती रहती है किस समुदाय या श्रेणी द्वारा

१ राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता।

२ सु० कु० चटर्जी इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी।

घटित हुई निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। यह कार्य चरको द्वारा सम्पादन हुआ हो सकता है। ये चरक स्थान-स्थान मे विचरण करने वाले विद्वान् थे जो देश भर में ज्ञान का प्रचार करते फिरते थे। आचार्य कुल मे ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर जो उच्चतर ज्ञान की खोज में विचरते थे ऐसे उत्तम विद्वानो के लिए भी चरक नाम उस समय था। वेद-व्यास कृष्ण द्वैपायन के शिष्य वैशम्पायन को भी चरक कहते थे, सम्भवतः इसलिए कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर ज्ञान का प्रचार करते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गण-भाषा क्षेत्रो में विचरने वालो के द्वारा विभिन्न भाषाओ के ऐसे तत्त्वो के प्रयोग से जो अनेक भाषाक्षेत्रो में बोधगम्य हो एक ऐसी भाषा अस्तित्व में क्रमशः आई होगी जिसमें, भिन्न-भिन्न मातृभाषाएँ होने पर भी, वे चरक परस्पर ज्ञानचर्चा कर सकें।

ऐसी भाषा का जन्म किसी प्राचीन चरण द्वारा भी हुआ हो सकता है। प्राचीन वैदिक चरण उत्तरकालीन चरणो की अपेक्षा में बहुत व्यापक और विशाल थे। ऐसा ही एक प्रसिद्ध उदीच्य चरण 'कठ' था जिसके अनुयायी, जो चरक कहलाते थे, गाँव-गाँव में फैले हुए बताये गये है। एक ही उपनिषद्, जो गौतम बुद्ध से प्राचीन माना जाता है कठ चरण का है। ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध चरण शैशिरीय था जिसके अनेक भेद या शाखाएँ थी। ऋक्सहिता का वर्तमान सस्करण इस शैशिरीय चरण की शालक शाखा का ही माना जाता है।

महाभारत और रामायण में सूत श्रेणी के व्यक्ति हमारे सामने राजकवि या गायक के रूप में आते है। वैदिक काल में 'राजकर्त्ताओ' में इन्हे उच्च स्थान प्राप्त था और सारथि होने के नाते विभिन्न गण-क्षेत्रो में वाहन करते हुए इन सूतो ने भी ऋक्सहिता की भाषा के उपजने मे सहायता दी हो, यह सम्भव हो सकता है। एक और समुदाय जो वैदिक काल में स्थान-स्थान पर विचरण किया करता था और जिसने भी इस कार्य में अशदान दिया हो सकता है वह व्रात्य है। डॉ० सुनीतिकुमार लिखते है कि वैदिक भाषा का एक प्राच्य रूप व्रात्य नामक अटनशील आर्यभाषी उपजातियो में भी प्रचलित था जो वैदिक अग्निहोत्र तथा ब्राह्मणीय सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था को मानने वाले नही थे।[१] 'पचविंश ब्राह्मण' में कहा गया है कि ये व्रात्य लोग यद्यपि वैदिक धर्म में दीक्षित नही हैं फिर भी दीक्षा पाये हुओ की भाषा बोलते हैं। अथर्व वेद में इनके सम्बन्ध में लिखा है कि वे किसी अवैदिक प्रजननशक्ति के पुजारी थे और उनकी उपासना में नृत्य और कशाघात आदि शामिल था।

१. सु० कु० चटर्जी : इन्डोआर्यन् एन्ड हिन्दी।

ये बैलगाडी में स्थान-स्थान पर विचरते फिरते थे। उनके साथ एक स्त्री होती थी जो वारसेवा करती थी और एक वादक जो उनके अवैदिक मन्त्रो के पाठ तथा अन्य रीति-विधि समय राग छेडता था। 'पचविंश ब्राह्मण' में व्रात्यस्तोम यज्ञो का वर्णन है जिनके द्वारा इन व्रात्यो, उनके अनुयायियो तथा अन्य अनार्यों को वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया जाता था।

उपरिचर्चित सम्भाषणेतर भाषा के अस्तित्व में आने का कदाचित् यह फल नही था कि उस ऋग्वेदिक काल में बोलचाल की भाषाएँ गणो या कबीलो की अपनी-अपनी भाषा के रूप में न रही हो। कम होने की बजाए इन बोलचाल की भाषाओ की अनेकरूपता बढती गई होगी यह अवश्यभावी है। ऋग्वैदिक समाज में उत्पादन और सामूहिक श्रम के साधन अत्यन्त अकिंचन होने के कारण गणो में विभाजित यूथो का छोटे-छोटे होना अनिवार्य था। जब उसके सदस्यो की सख्या उस सीमा से बढ जाती जो उस समय के उत्पादन साधनो द्वारा निर्धारित थी तो अतिरिक्त सदस्यो को स्थानान्तरण करना पडता। षड्रात्र क्रतु या सारस्वत सत्र से स्पष्ट है कि यह स्थानान्तरण किस प्रकार प्रारम्भ होता था। प्रस्थान कर रहा लघु गण 'अध्वर्यु' के नेतृत्व में, जो अन्तरस्थ अग्नि वाले शमी के दण्ड लिये होता, दस गाए और दस साड लेकर नये निवासस्थान की खोज मे निकल जाता, और वह तब तक यात्रा करता रहता जब तक सौ गायो भर को पालने के लिए चरागाह न मिल जाती। अन्तत जब वे इस प्रकार अधिवास करते तो थोडे समय में उनकी भाषा भी अपने उद्गम से विच्छिद हो कर एक नया रूप धारण करने लग जाती। इस सम्बन्ध मे एस० ए० डागे लिखते हैं "उन दिनो यातायात के साधन बहुत कम थे। दूर-दूर तक फैले हुए जनसमूहो के बीच मेल-जोल एक तरह से असम्भव था। इसलिए विभिन्न गण-गोत्रो और कबीलो ने शीघ्र ही अपनी विभिन्न छोटी भाषाओ को विकसित कर लिया था। यहाँ तक कि कुछ ही समय के बाद अपनी गण की मूल भाषा से वे भाषाएँ एकदम भिन्न दिखाई देने लगी थी। महामारी या विनाश द्वारा जब कोई कबीला क्षीण हो जाता तो वह किसी और गोत्र के लोगो को अगीकार कर लेता या उनमें जा मिलता। इससे कई नये कबीलो और गणो की भाषाएँ बहुत अशो मे मिली-जुली होती थी। सस्कृत व्याकरण ऐसी विशेषताओ से भरी पडी है और व्याकरण के वे विद्वान् जिनके पास सामाजिक इतिहास का ज्ञान नही है इन विशेषताओ को समझने की असफल चेष्टाएँ करते हैं। उदाहरण के लिए हम व्याकरण के महाविद्वान् पाणिनि को ले। अस्मद्-में, युष्मद-तुम, सर्वनामो के सात कारको में बनने वाले इक्कीस रूपो के

विषय को लेकर तेईस नियम उन्होने बनाए है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे कोई नियम नही है। भाषा की इन विशेषताओ को गण और कबीलो के मिश्रण या सयोग के द्वारा ही समझा जा सकता है। समय के साथ-साथ यह रूप-विकृति या परिवतन द्वारा बनते गये ऐसा नही माना जा सकता क्योकि पुरुषवाचक सर्वनाम इतनी सरलता से नही बदला करते।"[1]

इससे सिद्ध होता है कि सहिता युग में बोलचाल की भाषाओ की अनेकरूपता बनी हुई थी और ऋक्सहिता की भाषा,[2] जिसके ही प्राचीनतम लेख-प्रमाण उपलब्ध है, आम बोलचाल की भाषा न होकर विभिन्न गण-बोलियो पर आधारित एक कृत्रिम भाषा थी। इसे किसी बोलचाल की भाषा-विशेष का साहित्यिक रूप-मात्र सिद्ध करना गलत होगा क्योकि इस प्रकार के, बोल-चाल की भाषा के साहित्यिक रूप, एक ही बोली पर आधारित होते है, किन्तु जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है, सहिताओ की भाषा कई बोलचाल की भाषाओ के सम्मिश्रण से एक सभाषणेतर साहित्यिक भाषा के रूप मे अस्तित्व में आई। सहिता शब्द का ही अर्थ है "खूब मिले-जुले या सटे हुए शब्द", जैसे कि किसी कृत्रिम भाषा में ही हो सकते है। वेदमन्त्रो का शुद्ध उच्चारण तक सब के लिए सम्भव नही था। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञो में प्रयुक्त मत्रो का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। मत्रो में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अत्यन्त कठोर और अशिथिल नियम और शब्दो का स्थिर सयोग यह सिद्ध करता है कि ये विधिवत् पाठ में ही उपयुक्त थे। छन्दस् या वैदिक कविता की साधुभाषा सप्रयास अध्ययन की भाषा ही थी। पाणिनि ने भी वैदिक व्याकरण के रूपो की चर्चा 'लौकिक' भाषा के अपवाद रूप में की है।

छन्दस् के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा अस्तित्व में आती है। भारतीय आर्य गद्य साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण इनकी भाषा को उस काल की बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधि माना जाता है,

१. एस० ए० डागे—इन्डिया फ्रोम प्रिमटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी।

२ डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने सहिताओ के विकास की चार अवस्थाएँ बताई है "(अ) सबसे पूर्व मत्रो का उदय, (इ) विभिन्न केन्द्रो अर्थात् ऋषियो के कुलो में नूतन रचना द्वारा मन्त्रो का बाहुल्य, (उ) ऋग्वेद सहिता के रूप में मन्त्रो का एकत्र चुनाव, एव (ऋ) उस मौलिक सामग्री से जो ऋग्वेद सहिता में सुरक्षित और सगृहीत की गई अन्य तीन वैदिक सहि-ताओ का विकास" (हिन्दू सभ्यता)।

किन्तु इस भाषा का सृजन जन-साधारण द्वारा ग्रामो तथा नगरो में नही अरण्यो और चरणो में हुआ। अरण्य वे आश्रम थे जो एकान्त स्थानो मे दार्शनिक और रहस्य सम्बन्धी विषयो के अध्ययन के लिए बनाये गए थे और 'चरण' विद्या सस्थाएँ थी जिनका शिक्षा और साहित्य के निर्माण में बहुत व्यापक महत्त्व था। चरणो के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा-ग्रन्थ कण्ठस्थ कराये जाते थे। वहाँ के अध्येत छात्रो और पाठ्य छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थो के नाम इन चरणो के नाम से प्रचलित होते थे। ये ब्राह्मण ग्रन्थ कैसे विकसित हुए यह शतपथ ब्राह्मण के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। एक सौ अध्यायो वाला सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण इस समय याज्ञवल्क्य की रचना माना जाता है किन्तु इसके कई काण्ड अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थो के रूप में विभिन्न चरणो में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ मे वे सगृहीत हुए।

चरणो मे जिस गद्य शैली का प्रयोग हुआ, स्वाभाविक ही उसमें सहिताओ के लिए गढी हुई शब्दावली अपना ली गई जिससे यह भाषा, बोलचाल की भाषाओ के अधिक समीप होने पर भी, मन्त्रो की भाषा के समान ही सम्भाषणेतर बनी रही। ब्राह्मणो के अन्तिम भाग आरण्यक है, जो कि उपनिषदो से पहले की कडी थे। उस समय तक यह भाषा जो अभी सस्कृत नही पुकारी जाती थी अपरिवर्तनीय होने लगी थी। इसके विपरीत ग्राम बोल-चाल की आर्य गणो या कबीलो की भाषाएँ अनेक अनार्य तत्त्वो को ग्रहण करके, विकासोन्मुख भौतिक उपकरणो के साथ-साथ, तेजी से आगे बढ रही थी जैसे-जैसे बोलचाल की भाषाओ और इस कृत्रिम साहित्यिक भाषा में अन्तर बढता गया वैसे-वैसे व्याकरण के नियम और भी परिष्कृत होते गए। वस्तुत· यह महान् आचार्यों का युग था और एक नया वर्ग ऐसा भी फैलता जा रहा था जो चरण और अन्य वैदिक सस्थाओ से स्वतन्त्र रहकर व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में बिलकुल नई रचनाएँ कर रहा था। शाकटायन, आपि-शलि, स्फोटायन और भारद्वाज आदि ऐसे ही आचार्य थे। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो की परिश्रमसाध्य और शब्दाडम्बरयुक्त गद्य शैली के स्थान पर एक और कृत्रिम शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो 'सूत्र' के नाम से पुकारी जाती थी और जिसकी विशिष्टता अत्यन्त सूक्ष्मता और सक्षिप्तता थी।

सूत्रो की भाषा के सम्बन्ध में राधाकुमद मुकर्जी लिखते हैं "सक्षिप्त नियमो के रूप में एकत्र पिरोये हुए शास्त्रीय अनुशासन के ग्रन्थ सूत्र कहलाए। (इनमें) अधिक-से-अधिक सामग्री कम-से-कम शब्दो में दी जाती है।" यह भाषा, जिसके सबसे पहले वेदाग सम्बन्धी ग्रन्थ पाणिनि के भी पूर्ववर्ती थे,

आम बोलचाल की भाषा नही हो सकती थी और यत्नसाध्य शिक्षण द्वारा वर्षों में ही प्राप्त की जा सकती थी[1]। पाणिनि में यह सक्षिप्तिकरण इस सीमा तक जा पहुँचा कि वह बीजगणित पद्धति की-सी अकविद्या बनकर रह गया। वैसे भी पाणिनि का समय बुद्ध के बाद का है जब कि आदि प्राकृत भाषा सस्कृत के स्थान पर 'बोलचाल की भाषा' का रूप धारण कर चुकी मानी जाती है।

सस्कृत भाषा और साहित्य का स्वर्ण काल पाणिनि से भी आठ सौ वर्ष बाद आता है जब कि बहुत से ब्राह्मण वर्ण के लोग भी सस्कृत नही बोल सकते थे, जैसा कि सस्कृत नाटको में विदूषक के पात्र से सिद्ध होता है। उस समय सस्कृत बोलचाल की भाषा थी यह कोई भी नही मानता। किन्तु इस प्रामाणिक सस्कृत और वैदिक भाषा में जो अन्तर है वह यह सिद्ध करता है कि एक कृत्रिम भाषा अपना स्वतन्त्र विकास, जैसा कि पाणिनि-युग के पहले ही से हो रहा था, अधिक देर नही कर सकती और इसे अमरबेल की तरह सदा बोलचाल की भाषाओ से पोषण लेना होता है।

स्वरध्वनि की जडता बहुत अशो में बनाये रखने पर भी बोलचाल की समकालीन भाषाओ के अनुरूप इनमें अनेक शब्दावली और व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तन हुए। कृत्रिम भाषा पर जनता की बोलचाल की भाषाओ का कितना प्रबल प्रभाव पड सकता है, इसका उदाहरण रामायण और महाभारत की भाषा है जो समस्त सस्कृत साहित्य में सबसे लोकप्रिय थी। यह भाषा निश्चित रूप में प्रामाणिक सस्कृत होने पर भी पाणिनि निर्दिष्ट नियमो का बार-बार उल्लघन करती है और इस में आदि मध्य-भारतीय-आर्य भाषा के कई आकार हैं। महाभारत आदि की गाथाओ की सूतो द्वारा आख्यान की परम्परा ऋग्वेद काल से ही प्रारम्भ होती है किन्तु इसकी भाषा में प्राग्-पाणिनि भाषा के कोई भी

---

१ चीनी यात्री 'इ-त्सिग' ने, जिसने भारत की सातवीं शताब्दी ई० में यात्रा की, बताया है कि सस्कृत का अध्ययन करने के लिए कितना परिश्रम किया जाता था। उनके वर्णनानुसार छः वर्ष के होते ही बालक ४६ अक्षर और १०,००० सयुक्त अक्षर सीखना आरम्भ कर देते, आठ वर्ष का होने पर वे व्याकरण कण्ठस्थ करते और दस वर्ष की आयु पाने पर वे धातु-सूचियो और शब्दरूपो की विद्या प्राप्त करने लगते, जो पाँच वर्ष तक जारी रहती थी। पन्द्रह वर्ष की आयु होने पर उन्हे पाँच और वर्षों के लिए भाष्यो का अध्ययन करना होता था।

तत्त्व नही।[1] इसी प्रकार उस काल की अन्य साहित्यिक सामग्री भी जिस भाषा में आज उपलब्ध है उसी में साधारणत नही रची गई थी, और उनका सर्जन पहले-पहल गण भाषाओ में हुआ हो यह असम्भव नही।

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि प्रारम्भ ही से सस्कृत बोलचाल की भाषा नही थी, यद्यपि अपने प्राग्-वैदिक स्वरूप में यह सब की सामान्य सम्पत्ति थी। वर्गो के उद्भव के साथ-साथ यह उच्चवर्ग की अपभाषा में परिवर्तित होती गई। जैसे-जैसे लोहे का प्रचार बढने से भौतिक स्तर उठने लगा, वैसे-वैसे जन-भाषाएँ तेजी से आगे बढने लगी और यह वर्ग-भाषा अधिकाधिक सीमित और अपरिवर्तनीय बनती गई। महाभारत युद्ध के पूर्व लौहकालीन नगरो के विस्तार ने जनता की बोलचाल की भाषाओ को विशेष रूप से समृद्धिवान किया। महाभारत युद्ध के पश्चात् जब जातियो का मिश्रण हुआ और देशज भाषाओ के अनेक तत्त्वो का समावेश आर्य गणो और उप-जातियो की बोलचाल की भाषाओ में हुआ तो सस्कृत का कृत्रिम स्वरूप और भी स्पष्टता से निर्धारित हो गया।

स्टुअर्ट पिगट का कथन है कि भारतीय पगडी जिसका अभी तक उत्तर पश्चिम भारत में आम प्रचलन है, हडप्पा सस्कृति की देन है।[2] हडप्पा-कालीन मानव के बहुतेरे सास्कृतिक सचयन अभी तक चले आ रहे हैं। मुख्य वैदिक काल के पश्चात् के देवताओ, आर्य स्वस्तिक तथा भारतीय समाज के पुरोहित प्रधान रूप की खोज सिन्धु घाटी की सभ्यता तक की जा रही है। कुछ लोगो ने ब्राह्मी एव देवनागरी लिपि का सन्धान हडप्पा काल में किया है। मानव-सर्जित वस्तुओ में भाषा सबसे सुदृढ है। इसका नाश या समाप्ति कठिनतम है। ब्राह्मण ग्रन्थो में हमें पहली बार गौर वर्ण ब्राह्मणो की अपेक्षा अधिक बुद्धि-शाली एव चतुर कृष्ण-वर्ण वाले ब्राह्मणो का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थो में ही हमें पहली बार हडप्पा-कालीन पगडी का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई सन्देह नही कि इस ब्राह्मण काल तक (८०० ई० पू०) देशज अनार्य बोलियो ने आर्यो की बोलचाल की भाषाओ को अत्यन्त प्रभावित कर दिया था। सस्कृत भाषा में प्राकृत[3] तथा द्राविड[4] भाषाओ के जो शब्द विद्यमान है, उनका

१ देखिए सु० कु० चटर्जी : इन्डोआर्यन् एण्ड हिन्दी।

२ स्टुअर्ट पिगट . प्रिहिस्टारिक इण्डिया।

३ विधुशेखर भट्टाचार्य : प्राकृत का सस्कृत पर प्रभाव—कलकत्ता रिव्यू अप्रेल १९५३।

४ निलूरस्वामी एस० गण प्रकासर : लिंग्विस्टिक एविडेन्स फार दि कामन

समावेश उसी समय हुआ होगा।

प्राकृतो को जनता की असस्कार की हुई अथवा स्वाभाविक बोलचाल की भाषा बतलाते हुए कुछ भाषाविदो में इन्हे वैदिक सस्कृत—सस्कार की हुई भाषा—से पहिले की या समकालीन माना है। किन्तु प्राकृत भाषाएँ, जिनके लिखित प्रमाण हमें प्राप्त हुए है, बाद की सृष्टि है। यह भी उल्लेख किया गया है कि सस्कार की हुई अथवा सस्कार न की हुई भाषाएँ, अपने प्रारम्भिक काल में ही विच्छेद होने के बाद, दो अलग धाराओ में प्रवाहित होने लगी तथा ये दो विभिन्न स्तर के लोगो द्वारा बोली जाती रही और इनका परस्पर मिलना-जुलना नही होता था। किंतु यह ठीक नही है, क्योकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल में समाज की बोलचाल की भाषा, जो स्वभावत कबीलो की भाषा की अवस्था में थी, समस्त वर्गों के लिए सामान्य थी। विशिष्ट वर्ग के लोग सस्कृत को अपने वर्ग की अपभाषा के रूप में व्यवहार में लाते थे। फिर भी वे जनता की सामान्य बोली का, जो उनकी भी मातृभाषा थी, व्यवहार करते रहे और ये अपने वर्ग की कृत्रिम भाषा के पोषण के लिए इसका निरन्तर आश्रय लेते रहे थे।

जैसे समाज की उत्पादन क्षमता के साथ-साथ कबीलो की सामान्य भाषा में वृद्धि होती गई, वैसे उसमें नये शब्द बनने लगे और प्राचीन शब्दो का नवीन अर्थों में प्रयोग होने लगा। विशिष्ट वर्ग के लोगो ने जनता की इन कृतियो का अपनी भाषा मे उपयोग किया यद्यपि उन्होने व्याकरण के स्वरूप एव शब्द-गठन के नियमो को स्थिर रखा और उधार लिये हुए शब्दो का अपने व्याकरण के नियमो के अनुसार परिवर्तन कर लिया[1]। काव्यकल्पना एव पदावली के लिए भी साहित्यिक भाषा में शब्दो का निर्माण किया गया था किन्तु यह समझने मे कठिनाई नही होती कि सस्कृत के इन पर्यायवाचियो मे से कौन से कृत्रिम रूप से निर्माण किये गए और कौनमे जनभाषाओ से उधार लिये गए।[2] उदाहरण, 'पेड' के लिए सस्कृत पर्यायवाची वृक्ष, तरु, द्रुम, पादप

ओरिजिन आफ़ ड्रावेडियनज़ एण्ड एण्डो यूरोपियनज—तामिल-कल्चर—जनवरी १९५३।

१ कुमारिल ने स्वीकार किया है कि आर्य विदेशी भाषाओ के शब्द छाँट लेते थे और आवश्यक परिवर्तन के बाद सस्कृत में बदल लेते थे।

२ वैदिक भाषा में शास्त्रीय सस्कृत से अधिक पर्यायवाची शब्द हैं और वैदिक काल की बोलचाल की गण भाषाओ में तो उनसे कहीं अधिक पर्याय-वाची शब्द रहे होंगे, जो आज हमें वैदिक संस्कृत द्वारा प्राप्त है। आदि समाज में मनुष्य निकटस्थ पदार्थों और प्राकृतिक उपादानो के लिए

इत्यादि है किन्तु प्रथम दो ही ऐसे है जो आज तक भी उत्तर-भारतीय बोल-चाल की भाषाओ में व्यवहृत होते हैं। शासक-वर्ग ने सामान्य अर्थों के स्थान पर बोलचाल के शब्दो को अपने विशिष्ट अर्थों मे भी प्रयुक्त किया, जैसे ऋग्वेद में 'गवेषणा' का तात्पर्य्य, 'खोई हुई गाय की खोज करना' था, किन्तु बाद की सस्कृत भाषा में इसका प्रयोग किसी भी समस्या की जाँच-पडताल के रूप में होने लगा। बहुधा बोलचाल की भाषा के दो शब्द जिनके एक ही अर्थ होते थे, जैसे सुख और आनन्द, सस्कृत में विभिन्न अवसरो के लिए विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार बोलचाल की भाषा के एक ही अर्थ वाले शब्द को भी सस्कृत में अनेक अर्थ दे दिये गए, जैसे रस शब्द का आयुर्वेद में पारे के अर्थ में और काव्य शास्त्र में काव्य के तत्त्व के रूप में प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे सस्कृत में से कई बोलचाल के शब्द हटते गए और सादृश्य एव रूपक द्वारा नवीन शब्दो का निर्माण होता गया, जैसे गीता मे उदय होते हुए सूर्य के लिए बालक और शरीर के लिए क्षेत्र का प्रयोग हुआ है। कभी-कभी यह शब्दव्युत्पत्ति ही भ्रात होती, जैसे सुर—देवता, से असुर—राक्षस और सित—श्वेत, से असित—काला। सस्कृत के व्याकरण के नियमो की कठोरता के रहते हुए भी बोलचाल की भाषा के नवीन व्याकरण के तत्त्वो का उसमें समावेश होता रहा। क्रियापद के रूपो का जैसे-जैसे बोलचाल की भाषाओ में सरली-करण हुआ, सस्कृत के भी जटिल शब्दाकार सरल होते गए। इस प्रकार 'सस्कार' की विश्लेषण प्रणाली का विकास ही नही हुआ, क्रियात्मक धातुओ का उपचय भी हुआ, जिनके साथ अनेक औपसर्गिक प्रत्ययो को जोडकर एक क्रियात्मक धातु से सैकडो शब्दो का कृत्रिम भाषा के लिए निर्माण किया जा सका, ताकि उनके द्वारा साहित्यिक तथा दार्शनिक व्यञ्जना के प्रत्येक प्रयोजन की पूर्ति हो सके। उदाहरणत धातु 'कृ' से ही औपसर्गिक प्रत्ययों की सहायता के सैकडो शब्दो का निर्माण किया गया।

यद्यपि एक कृत्रिम भाषा अपने पोषण के लिए बोलचाल की भाषाओं

पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया करता था जिससे उनकी विभिन्न दशाएँ और रूप सूचित हो सकें। आज भी बेडुइन अरब कबीले ऊँट के लिए साधारण शब्द प्रयोग करने की बजाय उसके विशेष कार्यों और रूपो के लिए बीसियो विशेष शब्दो का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार फारले मोअट ने अपनी पुस्तक 'भूगदेस के लोग' में बताया है कि एस्कीमो कबीले 'अहाल्मुत' की भाषा में दरजनो ही शब्द है जिनका अर्थ किसी विशेष रूप में हरिण होता है।

पर आश्रित रहती है तथापि शासक वर्ग द्वारा निर्मित उसके रूपो और विकारो का प्रभाव बोलचाल की भाषा पर भी पडता है। यह प्रभाव सस्कृत के लिए तो अत्यन्त प्रगाढ होना स्वाभाविक है क्योकि भारत में सस्कृत और उसके पोषक-वर्ग का सहस्राब्दियो तक प्रभुत्व बना रहा है। सस्कृत के स्वर्ण-युग से पूर्व ही ब्राह्मण धर्म का विस्तार होने लग गया था और उसके साथ-साथ ब्राह्मण वर्ग द्वारा निर्मित अनेक शब्दो का निचले वर्गो में क्षरण हुआ और ऐसे कई शब्दो ने बोलचाल में नया रूप धारण किया। यह भी हो सकता है कि कुछ व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तन भी सस्कृत से ही बोलचाल की भाषा में चले आये हो। उदाहरणत, वैदिक भाषा में 'न' के दो अर्थ 'निषेध' तथा 'सादृश्य' है किन्तु संस्कृत में केवल निषेध, जैसा कि बाद में बोलचाल की कई भाषाओ में भी हुआ, और आज तक पजाब के कुछ भाषाक्षेत्र ऐसे है जिनमें 'न' सादृश्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हो रहा है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत जनता की बोलचाल की भाषा कभी न थी और आदि समाज में वर्गो के उपजने के पश्चात् भी जब यह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी उसने कभी भाषा-सम्बन्धी स्वाधीनता प्राप्त नही की थी। सस्कृत भाषा तथा साहित्य के सर्वोच्च तत्त्वो का निर्माण जनता द्वारा हुआ यद्यपि साधिकार अल्पसख्यको ने उनका रूप बदलकर उनसे अपने अधिकारो का सरक्षण किया। इसलिए हिन्दी या किसी और आधुनिक भाषा का उद्गम वैदिक या उत्तरकालीन सस्कृत में नही समझना चाहिए। आधुनिक भारतीय भाषाएँ अवश्य ही वैदिक काल के गण-गोत्रो और कबीलो की भाषाओ से सम्बन्धित है। यद्यपि सस्कृत भाषा का जन्म और पालन-पोषण उन्ही गण-भाषाओ से हुआ, किन्तु अपने कृत्रिम एव वर्ग-स्वभाव के कारण उसमें समकालीन वास्तविक बोलचाल की भाषाओ का बिगडा हुआ रूप ही मिलता है।

अध्याय ४

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय आर्य भाषाओ के मध्यकालीन रूप को जिसका समय लगभग ६०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है प्राकृत का सामान्य नाम दिया जाता है और इससे वे बीसियो भाषाएँ लक्षित है जिनके दक्षिण भारत में काची से लेकर चीनी तुर्किस्तान मे निया प्रदेश तक फैले हुए अवशेष आज भी प्राप्त हैं और जिनके प्रतिरूप और उल्लेख उस काल के धार्मिक एव लौकिक साहित्य में मिलते है। भारत के भाषा सम्बन्धी इतिहास का डेढ सहस्राब्दी का यह 'मध्य-भारतीय-आर्य' काल बहुत ही अव्यवस्थित है। विभिन्न वैयाकरणो द्वारा एक ही भाषा का अलग-अलग वर्णन किया गया है और कही-कही विभिन्न काल की विभिन्न भाषाओ को एक ही नाम दे दिया गया है। प्राकृत की प्रतिष्ठित व्याख्या में पालि को इस वर्ग से अलग माना गया है, किन्तु कुछ लोग इसी से प्राकृत काल का प्रारम्भ मानते है। कभी अशुद्ध सस्कृत के कई भेद, जिसमें से कुछ का व्यवहार बौद्धो की महायान शाखा द्वारा उनकी 'मिश्रित सस्कृत' में किया गया है, इस वर्ग में सम्मिलित किये गए है और कभी अशोक के समय के शिलालेखो की तथा चीनी तुर्किस्तान में खोजी हुई निया प्राकृत इनसे अलग मानी जाती है। यद्यपि प्राकृत के कई भेद वास्तव में मिश्रित भाषाएँ मानी जाती है, "जो सस्कृत से कुछ ही कम बनावटी थी"[1] और जो अनेक उपजाति समूहो के विस्तृत भूखण्डो मे फैली हुई थी, तथापि ये उस काल की बोलचाल की भाषा के रूप में सामने रखी जाती है और आधुनिक भारतीय भाषाओ की पुरोगामी सिद्ध की जाती है। इस काल की भाषाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती है—पूर्वकाल की प्राकृत

१ प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती · लिग्विस्टिक स्पैकुलेशन ऑव हिन्दूज, कलकत्ता, वि० १६५५।

(पालि और प्राचीन मागधी—५०० ई० पू० से १०० ई०), मध्यकाल की प्राकृत (शौरसेनी, मागधी और उनके भेद—१०० ई० से ६०० ई०) और उत्तरकाल की प्राकृत (अपभ्रंश ६०० ई० से ११०० ई०)[1]। मध्यकाल की तथा परवर्तीकाल की प्राकृत या अपभ्रंश का सम्बन्ध माता एवं कन्या का

१. एस० एम० कतरे ने प्राकृत भाषाओ का निम्न वर्गीकरण किया है

(क) धार्मिक प्राकृत—पालि, दक्षिणी धर्मशास्त्रो और उनके बाद की कृतियो की भाषा। अर्धमागधी, जैन सूत्रो की प्राचीनतम भाषा तथा आरसा महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश जिसमें जैन साहित्य का वर्णनात्मक साहित्य प्रचुर मात्रा में है।

(ख) साहित्यिक प्राकृत—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश तथा उनकी उपशाखाएँ।

(ग) नाटकीय प्राकृत—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और इनकी शाखाएँ, प्राचीन अर्धमागधी जो अश्वघोष के नाटको में मिलती है तथा अल्पबोलियाँ, जैसे ढक्की और तक्की।

(घ) वैयाकरणो द्वारा वर्णित प्राकृत—इनके अन्तर्गत ५ या ६ बोलियाँ हैं जो सस्कृत नाटकोमें और मध्य भारतीय-आर्य कथा साहित्य में मिलती है, जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, कुल्क पैशाची और अपनी कई बोलियो के साथ अपभ्रंश। इस वर्ग में वे प्राकृत भी आती है जो काव्य या सगीत के लिए प्रयुक्त हुई है, जैसे भरत का नाट्यशास्त्र या गीतालकार या नमिसाधु की रुद्रट के काव्यालकार की टीका।

(च) भारतेतर प्राकृत—धम्मपद प्राकृत की भाषा जो खोतान में प्राप्त हुई और खरोष्ट्री लिपि में है, चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त लेखो की निया और खोतानी प्राकृत।

(छ) शिलालेखो की प्राकृत—अशोक काल और उसके बाद, यह ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपि मे लिखी जाती थीं तथा समस्त भारत और लका मे पाई जाती है। इसके अन्तर्गत ताम्रपत्र और मुद्राएँ भी आती है।

(ज) जनप्रिय सस्कृत—हिन्दू, बौद्ध और जैन। इनमें कुछ ऐसे व्यवहार मिलते है जो शुद्ध और प्रतिष्ठित सस्कृत में अग्राह्य और अनुचित समझे जाते थे।

(दे० प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन कलचर)

माना जाता है। दोनो अवस्थाओ की भाषाओ का सामान्यत एक ही नाम है। उस काल के वैयाकरणो ने सस्कृत से प्राकृत और अपभ्र श का रक्त का सम्बन्ध स्थापित किया है और भारत की भाषाओ को मुख्यत तीन अवस्थाओ यथा सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श में बाँटा है। दण्डी, भामह और भोजराज ने इस त्रिवर्गीकरण को स्वीकार किया है।

आदि प्राकृत काल का समय मध्यदेश और पूर्वी भारत मे दास अर्थ-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का था। यह दासत्व प्रथा भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम और अफगानिस्तान में, जहाँ महाभारत युद्ध का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पडा था, कुछ शताब्दियो तक अधिक कायम रही। भारत में दासो का प्रचलन अथवा दास-प्रथा का स्वरूप पश्चिम की सभ्यता के समान नही रहा।[1] पूर्व से मिला हुआ एक विशाल भूखण्ड था जहाँ दास और सामाजिक प्रतिष्ठा से गिरे वैश्य और शिल्पी भाग सक्ते थे।[2] इससे देश में दास-श्रम पर निर्मागित विस्तृत नागरिक जीवन का सवर्धन न हो सका था। दास अर्थ व्यवस्था के क्रमश भग्न हो जाने का काल, जिसका प्रभाव सब जगह

१ श्रीपाद अमृत डागे अपनी पुस्तक 'भारत—आदिम साम्यवाद से दास-प्रथा तक का इतिहास' के हिन्दी सस्करण की भूमिका में लिखते हैं . "भारत में दास प्रथा प्रचलित थी—इस सम्बन्ध में कुछ आदर्शवादी हिन्दुओ को छोडकर और कोई शका नहीं उठाता। प्रश्न यह है, क्या रोम और यूनान की तरह यहाँ की आर्थिक व्यवस्था में भी उसका प्रमुख स्थान था ? मैंने यह बताया है कि दास-प्रथा का स्वरूप यहाँ रोम और यूनान-जैसा ही निखरा हुआ नहीं था। इसके कई कारण हैं जिन्हे मै सक्षेप में बता देना चाहता हूँ। मार्क्स ने भारत के ग्रामीण समाज में शिल्प और कृषि की एकरूपता का उल्लेख किया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस एकरूपता का यह अर्थ नही है कि गाँवो में वर्ग बनें ही नहीं और वर्ग-सघर्ष हुए ही नही और न जमीन का सामाजिक स्वामित्व ही दास प्रथा और अर्ध-दास-प्रथा को रोक सका। पर कुछ लोग ऐसा नहीं सोचते। यथार्थ यह है कि भारतीय कृषि की भौगोलिक परिस्थितियो के अनुरूप यहाँ की दास-प्रथा की केवल कुछ अपनी विशेषताएँ थी।"

२ वैदिक काल में प्रतिष्ठाप्राप्त वैश्यो का इस काल में पतन हो चुका था यह गीता के इस श्लोक से सिद्ध है—

मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु. पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि याति परा गतिम् ॥ अ० ६, श्लो० ३२ ।

तीव्र मानसिक क्रियाशीलता के रूप मे पडा, भारत के लिए तो और भी बौद्धिक एव आध्यात्मिक जागरण का था। बुद्ध के पूर्व का उत्तरभारत उस अन्धकार-युग से बाहर आ रहा था जो महाभारत युद्ध और उसके बाद गगा की घाटी में पश्चिम दक्षिण और पूर्व मे नाग तथा अन्य अनार्य जातियो द्वारा विनाशकारी आक्रमणों से प्रारम्भ हुआ था। इसके कारण दासो, अप्रतिष्ठित आर्यो और अनार्य जातियो मे जो विद्रोही भावना उठ खडी हुई थी वह कितनी प्रबल थी, उसका अनुमान अर्जुन के इस कथन से होता है कि नागलोगो के साथ युद्ध में जब वह अपने दैवी अस्त्र-शस्त्र लेने लगते तो वे उनके हाथ नही आते थे[1]। भगवान् कृष्ण ने काशी को जलाकर पुन प्रतिष्ठित कर दिया था किन्तु द्वारका पर आक्रमण के समय वे कुछ भी न कर सके और वहाँ गृहयुद्ध की आग भभक उठी। जब शासक-वर्ग परस्पर मारकाट कर रहे थे या निषादों द्वारा उनका सहार किया जा रहा था, तो बेबस उन्होने वहाँ के निवासियो को प्रभास चले जाने की आज्ञा दी।

जैसे-जैसे नगरो के छिदरने से वहाँ के लोग ग्रामीण क्षेत्रो की ओर जा रहे थे वैसे-वैसे कृषि-प्रथा बहुत तेजी से फैल रही थी और दासयुग के प्रौद्योगिक उपादान अधिक विस्तृत होते और जनता के निकट पहुँचते जा रहे थे। सत्ता का केन्द्र हस्तिनापुर से धातु-बाहुल्य बिहार में पहुँचने पर लोहे का व्यवहार, जो अब शस्त्रास्त्रो में कम हो रहा था, अधिक सामान्य हो गया था।[2] परन्तु सामन्तशाही की ओर अभिरुचि होने के कारण उत्पादी प्रविधियो की उन्नति में बाधा पडने लगी, जो कि भारत में दास अर्थ-व्यवस्था के पूर्णरूप से फलित न होने के कारण अभी पूरी तरह विकास को पहुँच न सकी थी। जैसे-जैसे लाभ-दायक विज्ञान की अभिरुचि में कमी होती गई, जनता के प्रज्ञीय प्रयास, सभ्यता की एक नवीन आकृति, सगठित धार्मिक विश्वासो की ओर उन्मुख होते गए।

यह काल परिव्राजको के लिए, जो कि वर्ष के अधिक समय तक स्थान-स्थान पर विचरण करते रहते थे, उल्लेखनीय है। ये नीतिशास्त्र, तत्त्वज्ञान और प्रकृति सम्बन्धी विषयो पर वादविवाद किया करते थे।

१. जे० डी० बरनाल ने 'साइन्स इन हिस्टरी' मे बतलाया है कि उस काल में अच्छा लोहा इतना मूल्यवान और दुष्प्राप्य था कि उसके अस्त्र-शस्त्र चामत्कारिक समझे जाते थे।

२ ए० एल० बाशम, 'दि वन्डर दैट वाज इन्डिया' में कहते है कि भारत में लोहे का स्रोत दक्षिण बिहार था और आधुनिक राची के आस-पास लोहे के क्षेत्र के मार्ग पर नियन्त्रण मगध-शक्ति के उदय का प्रमुख कारण था।

इसमें ज्ञानोपार्जन उतना ही लक्षित था जितना अपने विश्वासो और विचार-प्रणालियो का प्रचार। इन परिव्राजको में मध्ययुगीन यूरोप के समान भिक्षा माँगते हुए विद्यार्थी और स्त्रियाँ भी होती थी। इनके ठहरने और वादविवाद के लिए स्थानो का प्रबन्ध कर दिया जाता था। बस्तियो के निकट ही कुञ्जो में इनके लिए कुटीर, छौलतरियो और विश्रामस्थलो का निर्माण कर दिया गया था। ये परिव्राजक विद्वान् प्राचीनकाल के मुनि या व्रात्य नही थे और न अगले काल के वानप्रस्थी अथवा सन्यासी थे।[1] चिन्तन-स्वतन्त्रता उस समय बहुत थी जिसके कारण मतो और सिद्धान्तो के उद्भ्रान्त भेद हो रहे थे। एक ही से अभिमत रखने वाले लोग बहुधा सघो में सगठित हो जाते थे। बौद्धो का धार्मिक सम्प्रदाय साक्यपुत्त समण और जैनो का, जो बुद्ध से प्राचीन था, निगठ कहलाता था। ऐसे ही बीसियो सगठन और रहे होगे जैसे आजीविक सम्प्रदाय जो सम्राट् अशोक के समय तक अत्यन्त विस्तृत था किन्तु बौद्धो और जैनो की भाँति, इनके प्रज्ञीय क्रियाकलापो का अब पता नही मिलता है।

यह वह काल था जब प्राचीन लोक-कथाओ की परम्पराओ के आधार पर जनता द्वारा जातक कथाओ का निर्माण और समृद्धिकरण हो रहा था। बौद्धों द्वारा परिवर्तन के साथ इनका एक अल्प भाग आज हमें प्राप्त है। यही वह काल था जब जनता द्वारा अखान (अख्यान) के रूप में उस सामग्री का निर्माण किया गया जिसने बाद में विशाल महाभारत का रूप लिया। यही वह काल था जिसमें सूतो और चारणो ने वीरगाथाओ की रचना की और भूतकाल के गण-योद्धाओ के आदर्श चरित्रो का गुणगान किया, क्योकि उस काल की कोई विजयगाथा ऐसी न थी जिसकी स्तुति की जाती। जनता के इस सास्कृतिक धन से और उनके मुखारविन्द से झरे हुए इन रत्नो से ही बाद में वाल्मीकि रामायण की सामग्री उपलब्ध हुई। वर्ग-सघर्ष के तीव्र हो

१ ऋग्वेद में मुनि का ब्राह्मण से विभेद किया गया है और बृहदारण्यक में (४-४-२२) कहा है कि "ब्राह्मण वेदाध्ययन से, यज्ञ से, तप से, उपवास से, उसे जानने का प्रयत्न करते है और जो उसे जान लेता है, वह मुनि हो जाता है।" व्रात्य वह ऋग्वेदकालीन अनार्य अथवा अवैदिक आर्य अटनशील पुरोहित थे जो बैलगाडियो में घूमते हुए धर्मकार्य करते थे। बुद्धोत्तर-काल में वानप्रस्थी—वन में रहने वाले भिक्षु, और संन्यासी—लिप्सामुक्त तपस्वी, नवयुवक भी हुआ करते थे जो पहले दो आश्रमो की उपेक्षा कर के वन में रहने या तप करने लग जाते थे।

जाने से, सुरस्तोम और देवमाला का स्थान जब अवितथ धर्म ने ले लिया और धर्म अपने मतो में विधिबद्ध हो गया, तब वैदिक निष्ठा के स्थान पर एक नई पौराणिक मनसृष्टि की रचना हुई, किन्तु अब इसमे वर्ग विभाजन किया गया था। इन परिकल्पनाओ में अधिकाशत प्रज्ञीय स्वाधीनता और ज्ञान की पिपासा से उत्साहित थी और इन्होने ही आगे चलकर उपनिषदो और धर्म पुराणो के बीजरूप का कार्य किया।

सस्कृत में अनूदित होकर महाभारत, पुराणो आदि का मूलरूप बनने वाली जन्मजात आर्यों, मिश्रित आर्यों, तथा आर्यभूत अनार्यों में प्रचलित ऐतिहासिक गाथाओ, वीर काव्यो और लोकगीतो, तथा जनता की अन्य कृतियो की भाषा एक से दूसरे क्षेत्र तक ही भिन्न न थी किन्तु रचना की प्रकृति के अनुसार भी इनमें भेद थे। ये कृतियाँ बहुधा उस गण या उपजाति की भाषा में होती थी जो उस क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखता था तथा कई स्थानो पर अनेक उपजातियो की मिली-जुली बोली पर आधारित होती थी। परिव्राजको के एक भाषा-क्षेत्र से दूसरे में भ्रमण करने के कारण एक सामान्य शब्दभण्डार और एक सामान्य सम्भाषणेतर भाषा का उद्‌भव अपरिहार्य था। अशोक-काल की मागधी सम्भवत इसी प्रकार मागधी बोलियो का मिश्रण थी जो शिलालेखो के क्षेत्र के अनुसार परिवर्तित हो गई थी।[1] यह भाषा जिसे प्राचीन मागधी कहा जाता है प्राकृत वैयाकरणो की परवर्ती-मागधी से कम कृत्रिम थी। इसने कई शिलालेखा की प्राकृत को व्याकरण का ढाँचा दिया और इसका पालि के शब्द-भण्डार में व्यापक प्रतिनिधित्व था। जैन अगो की भाषा अर्द्धमागधी का आधार भी यही प्राचीन मागधी या इसी तरह की कोशल और मगध की कुछ बोलियो के मिश्रण से बनी कोई भाषा होगी, अगरचे पाँचवी शती ई० में जब वलभी, काठियावाड, में इसके रूप को स्थिर किया गया तो वह बहुत कृत्रिम हो चुकी थी। आदि प्राकृतकाल की इन भाषाओ—अर्द्ध-मागधी, अशोककालीन मागधी और पालि—का कृत्रिम स्वरूप सामान्यत स्वीकार किया जाता है और इसीलिए ये बाद की प्रतिष्ठित प्राकृतो में रखी नही जाती है, यद्यपि हम आगे देखेंगे कि आदि प्राकृत भाषाएँ मध्य-प्राकृत भाषाओ की तुलना में बोलचाल की भाषाओ के सन्निकट थी।

धार्मिक और लौकिक साहित्य के माध्यम के रूप में पालि तीसरी

१ रिहस डेविड्स : "समस्त विषय का पूरा अध्ययन कर मि० सेनार्ट ने दिखाया है कि ये शिलालेख न वर्णविन्यास में और न शब्दावली में किसी देशी भाषा का रूप देते है। (बुद्धिस्ट इण्डिया)

शताब्दी ई० पू० से ११वी शताब्दी ई० तक रही। उसकी प्रारम्भिक अवस्था छन्दोबद्ध गाथाओ मे उपलब्ध है जिसमें पालि 'सुत्तन्तो' के गद्याश सम्मिश्रित है। उसके बाद अन्य निकायो और सुत्तो की गद्य की भाषा मिलती है और फिर आदि लौकिक कृतियो की गद्य, जैसे मिलिन्दपह्ल, और गद्यभाष्य की भाषा इत्यादि। अन्त में काव्यकृतियो की भाषा आती है जो सस्कृत साहित्य में निर्दे-शित प्रतिरूपो और नमूनो के सन्निकट है।

बौद्धो की हीनयान शाखा की इस भाषा की आकृति सुस्पष्ट और एकसी नही है। इसके विपरीत अपने रचनाकाल की विभिन्न अवस्थाओ में उस पर उस समय की बहुत-सी बोलियो का प्रभाव पडा है यद्यपि भाषा-सम्बन्धी आकृति में उसका वर्णन 'मध्य इन्डो-आर्यन' अवस्था के प्राचीनतम प्रतिनिधि के रूप में किया जाता है।

पालि शब्द कहाँ से आया इसका सन्तोषप्रद उत्तर कही से प्राप्त नही होता है। भाषाशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ की है, कुछ लोग इसे सस्कृत पल्लि (बस्ती-नगर) से निकालते हैं, कुछ 'पलाश' से जो मगध का एक नाम है और कुछ मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से। कई इसे पंक्ति का एक विकृत रूप मानते है और कुछ-एक विद्वान् इसका मूल महात्मा पह्लव तक जा खोजते है। हाल ही में डॉ० मनमोहन घोष ने एक नया सुझाव दिया है कि पालि शब्द सम्राट् अशोक के भाबरू शिलालेख में धार्मिक शिक्षा के लिए प्रयुक्त '(धम्म्म) पालियानी' का परिवर्तित रूप है जो तीन-चार सौ वर्षो में सक्षिप्त होता-होता 'पालियानी' से 'पालिया' और 'पालि' बन गया।[1]

पालि शब्द का सबसे पहला प्रयोग 'दीपवस' में मिलता है जिस की रचना ३५२ ई० से ४५० ई० के बीच हुई मानी जाती है। यह भाषा मगध की थी या शौरसेन या अवन्ती की इसके बारे मे भी मतभेद बने हुए हैं, क्योकि इन तीनो क्षेत्रो की भाषाओ के तत्त्व न्यूनाधिक इस में खोजे जा सके है। भगवान् बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यो ने यह प्रस्ताव किया था कि तथागत के उपदेशो को प्राचीन वैदिक भाषा 'छान्दस्' मे अनूदित कर लिया जाय किन्तु बुद्ध का अनुरोध था कि समस्त जन उनके उपदेश को 'अपनी मातृभाषा' में ग्रहण करे। इससे कई बार यह स्थापित किया जाता है कि पालि बुद्ध-कालीन मगध की बोलचाल की भाषा थी। इसके समर्थन मे यह तर्क भी दिया जाता है कि पालि तिपिटक (त्रिपटक) की जिस भाषा को महाकच्चायन ने

१ डॉ० मनमोहन घोष · पालि शब्द का अर्थ, एक सुझाव—इण्डो-एशियन कलचर, अप्रैल १९५६।

नियमबद्ध किया, उसने व्याकरण में इसे मागधी और मूल भाषा कहा है। किन्तु इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है कि पालि के अतिरिक्त और कई भाषाओ में भी बुद्ध-वचनो का अस्तित्व था, जैसे 'लोयुन' (चीनी) लाघुन (मागधी) से साहश्य रखता है राहुल (पालि) से नही। इससे प्रतीत होता है कि चीनी अनुवाद, पालि से न होकर किसी मागधी भाषा से ही हुआ। पालि ग्रन्थकारो ने भी पालि और मागधी को दो भिन्न भाषाएँ बतलाया है। कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि पालि, बुद्धो, बोधिसत्त्वो और देवताओ की भाषा है और मागधी मनुष्यो की। मागधी शब्द का पालि से विभिन्न व्यवहार बहुत पीछे तक बराबर होता रहा जैसे 'साहित्य दर्पणकार' में नाटको के लिए यह नियम दिया है कि अन्त·पुरचारी लोग मागधी में बातचीत करते दिखाये जायें और चेट, राजपूत तथा वणिक् लोग अर्द्धमागधी में।

पालि के अधिकतर विद्वानो का भी यही मत है कि यह बोलचाल की भाषा न होकर अनेक बोलचाल की भाषाओं के सश्लेषण से अस्तित्व में आई थी[१]। एच० करण और मिनायेफ ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। एच० कुह्‌न ने इस मत से सहमति प्रकट करते हुए यह कहा है कि पालि को एक कृत्रिम भाषा मान लेने से ही उसके उद्‌गम की समस्या हल नही हो जाती, क्योकि एक कृत्रिम भाषा बहुत सी बोलियो से अपनी भाषा-वस्तु एकत्र करने पर भी किसी एक बोली-विशेष पर आधारित होती है, किन्तु इस बात पर कि कौन-सी बोली पालि का आधार बनी उन्होने कोई सुनिश्चित मत प्रकट नही किया। पालि के शब्द-भण्डार और व्याकरण की दृष्टि से मगध की भाषा न होने पर भी, वी० वेयटी और कई अन्य विद्वान् श्रीलका के परम्परागत मतानुसार उसे मगध की भाषा पर आधारित मानते है। रिह्‌स डेविड्‌स ने पालि को कोशल की भाषा माना है क्योकि बुद्ध ने अपने को 'कौशल-खत्तिय' कहा है। सम्राट् अशोक के गिर्नार (गुजरात) के शिलालेख से क्योकि पालि अपेक्षाकृत समीप है, इसलिए वैस्टरगार्ड, ह० कुह्‌ण, आर० ओ० फ्रैंक आदि उसे उज्जैन की भाषा मानते है, जहाँ की महिंद की माता भी थी। स्टैन कोनऊ ने पालि और पैशाची में साहश्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है और ग्रियर्सन ने पैशाची का आदिगृह भी उज्जैन ही माना है।

सम्भवत पालि मथुरा और उज्जैन की बोलियो के मिश्रण से बनी होगी, जिसमें, मागधी बोलियो के अनेक शब्दो का समावेश हो गया था।

१. विस्तारपूर्वक विवरण के लिए देखिए, विलहल्म गेईगर : पालि लिट्रेचर एण्ड लेंग्वेज, कलकत्ता यू०।

बुद्धकाल में यमुनातट पर स्थित 'मधुरा' के राजा को 'अवन्ती पुत्तो' कहा गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जैन के राजवश की एक शाखा ने शौरसेन पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था, जिसकी राजधानी यह 'मधुरा' थी (आधुनिक मथुरा)। उस राज्य की राज्यभाषा के रूप में वहाँ यह भाषा उदित हुई होगी। मथुरा में भगवान् बुद्ध का आगमन हुआ था और यह उनके महान् प्रभावशाली शिष्य महाकच्चायन का निवासस्थान था, जिन्हे परम्परा के अनुसार पालि भाषा के प्रथम वैयाकरण का श्रेय प्राप्त है और इन्ही के नाम से प्राचीनतम पालि व्याकरण का नाम लिया जाता है। सिलवियन लेवी और प्रो० हेनरिच लूडरस सरीखे प्रसिद्ध विद्वानो ने पर्याप्त साक्ष्य द्वारा निर्देशित किया है कि बुद्ध के प्रवचन सबसे प्रथम मगध की किसी बोली मे रचित किये गए थे और पालि में उनका अनुवाद हुआ था। बाद मे पालि अपने घर—मध्य देश—से निकाल दी गई, केवल विहारो और धर्मस्थानो की भाषा के रूप में रह गई और दक्षिण के काचीपुर और तजोर तक जा पहुँची। इसी प्रकार आदि जैन ग्रन्थो की भाषा अध-मागधी ने काठियावाड स्थानान्तरण किया और वहाँ वलभी मे इसका व्याकरण लिखा गया। आदि प्राकृत काल की इन भाषाओ के न्यूनाधिक कृत्रिम होने पर अब विद्वान् एकमत होते जा रहे हैं।

मध्य अथवा प्रतिष्ठित प्राकृतो का समय प्रथम शताब्दी ई० से प्रारम्भ होता है। वररुचि जो सबसे पहले प्राकृत वैयाकरणो में से था उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नो में से एक माना जाता है। सयोगवश उज्जैन का ही शाक्य वश सस्कृत का व्यवहार करने वाला प्रथम महत्त्वपूर्ण राजकुल था। गिरनार के शिलालेख सस्कृत की प्राचीनतम उपलब्ध लिखित सामग्री है। जैसे सामन्तशाही विकसित होती गई और मौर्य-काल में अस्थायी प्रगतिरोध होने पर भी, सामन्ती भूदासता की वृद्धि और पुष्टीकरण हुआ वैसे ही जनभाषाओ पर आधारित साहित्यिक भाषाओ में भी परिवतन हुए और मध्य-प्राकृत भाषाओ में कृत्रिमता बढती गई। इस तरह बोलचाल की और मृतभाषाओ के बीच की विचित्र बोलियाँ अस्तित्व में आई जो कभी 'सकर सस्कृत' और कभी 'मिश्रित प्राकृत' कहलाती थी।[1] बोलचाल की भाषाओ

---

१ यह मिश्रित अथवा सकर सस्कृत एक पूरी तरह विकसित भाषा थी न कि कम पढे पण्डितो की अशुद्ध या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत। इस कृत्रिम भाषा की अपनी स्पष्ट, यद्यपि सम्भाषणेतर, शब्दावली और व्याकरण था। इसका पूरा-पूरा विवरण अमरीका के पैनसिलवानिया विश्वविद्यालय से प्रकाशित एफ० अजर्टन की 'बुद्धिस्ट हाईब्रिड संस्कृत ग्रामर एण्ड

से उत्पन्न साहित्यिक भाषाओ के प्रत्यय सस्कृतमय होने लगे, उनके शब्द विकृत किये जाने लगे ताकि वे अधिक पाण्डित्यपूर्ण लगने लगें। इस प्रकार साहित्यिक शैलियो का प्रादुर्भाव हुआ जो नितान्त या अधिकतर कृत्रिम थी और जिनका जीवित बोलियो मे कोई अस्तित्व न था। जैसे-जैसे प्राकृत के लिए जनता की भाषाओ के सन्निकट होने की सुविधा जाती रही वैसे-वैसे सस्कृत का उसके स्थान पर साहित्यिक भापा के पद पर आसीन होना आसान होता गया। ये सकर भाषाएँ जितनी ही सस्कृत के समान होती गईं, शासक-वर्ग को अपने अधिकार के समान अपनी इस भाषा का आरोपण करने मे भी उतनी ही आसानी होती गई। इसी कारण हमें गुप्त शासनकाल में सस्कृत भाषा का अभूतपूर्व विकास मिलता है।[१]

डिक्शनरी' में उपलब्ध है।

१ रिहस डेविड्स ने प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य तक भारत की भाषाओ की निम्न सूची दी है—

(१) भारत पर आक्रमण करने वाले आर्यों की बोलियाँ तथा द्राविड और कोलारियन की बोलियाँ।

(२) प्राचीन उच्च-भारतीय वैदिक भाषा।

(३) द्राविडो से वैवाहिक या राजनीतिक सम्बन्ध से प्रभावित आर्यो की बोलियाँ। ये हिमालय की तराई में कश्मीर से नेपाल तक, सिंधु घाटी तथा वहाँ से अवन्तिपुर या गगा-यमुना की घाटी के पार तक की उनकी आबादियो में बोली जाती थीं।

(४) द्वितीय उच्चभारतीय—ब्राह्मणो और उपनिषदो की भाषा।

(५) गाधार से मगध तक बौद्ध धर्म के उत्थान-काल की भाषाएँ। ये एक-दूसरी से इतनी भिन्न न थी कि समझी न जा सके।

(६) कोशल की राजधानी सवत्थी की स्थानीय बोली पर आधारित एक परस्पर वार्तालाप की उपभाषा। इसका प्रचार कोशल अधिकारियो, व्यापारियो और सास्कृतिक वर्गों में, समस्त कोशल राज्य में, दिल्ली से पटना तक और उत्तर में सवत्थी से दक्षिण में अवन्ती तक था।

(७) मध्य उच्चभारतीय, पालि। उपर्युक्त न० ६ पर आधारित साहित्यिक भाषा जो अवन्ती में बोले जाने वाले रूप में व्यवहृत होती थी।

(८) अशोककालीन बोलियाँ। उपर्युक्त न० ६ पर आधारित, विशेषकर पटना में बोली जाती थीं।

(९) अर्धमागधी जैन अगो की उपभाषा।

भाषा मे परिवर्तन के साथ-साथ धर्म और सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन हो रहा था। भारतीय सामन्तवाद को, जो आर्थिक तथा सामरिक दृष्टि से हीन था, उस काल में, जब ईसा के जन्म से कुछ पूर्व और बाद की शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से निरन्तर आक्रमणकारी प्रविष्ट हो रहे थे, बार-बार प्रगतिरोध भोगना पडा। पहले बैक्टीरिया के ग्रीक आये जिन्होने पजाब में गणराज्यो की स्थापना की। तत्पश्चात् शाक्य आये जो मथुरा, मालवा और काठियावाड तक बस गये। फिर पहलव और उनके पीछे कुशन आए, यूएचिह् की ६ चीनी उपजातियो में से एक थे जिन्होने शाक्यो को भारत की ओर खदेडा था। मौर्य-साम्राज्य के बाद देश के पूर्व में भी अराजकता थी। कृषि तथा उत्पादन के अन्य साधनो में ह्रास होने के कारण उत्पादन में निरन्तर कमी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इसके बटवारे और वितरण मे और भी कठोरता और दमन वरता जाने लगा। शोषित वर्ग के बढते हुए कष्टो का आभास इससे मिलता है कि इनके सहिष्णुता और साधुता से सहन करने पर आगामी जन्म में जिस सुन्दर जीवन की प्रतिज्ञा की गई थी वह क्रमश मनोरम होता गया। अपने कई अन्तर्निहित दोषो के कारण भारतीय समान्तवाद में स्थायित्व का अभाव तो था ही, इस काल में उष्णदेशीय कृषि के लिए

(१०) लेना बोलियाँ ये उपर्युक्त न० ८ पर आधारित द्वितीय शताब्दी ई० पू० से आगे गुफा शिलालेखो में व्यवहृत होती थीं। उत्तरोत्तर न० ११ के समान होती गई और अन्तत उसमे विलीन हो गई।

(११) प्रामाणिक, उच्च भारतीय, सस्कृत। इसका रूप और शब्दकोश नं० ४ से विकसित हुआ, जिसे न० ५ से ७ तक की भाषाओ के शब्दो से समृद्ध किया गया। परन्तु इन शब्दो को भी विकृत करके न० ४ का-सा रूप दे दिया गया। यह बहुत काल तक पुरोहित-वर्ग की साहित्यिक भाषा रही। इसका व्यवहार शिलालेखो और मुद्राओ पर द्वितीय शताब्दी ई० से आरम्भ हुआ और यह चतुर्थ और पचम शताब्दी से समस्त भारत की राष्ट्रभाषा हो गई।

(१२) भारत की देशी भाषाएँ—पाँचवी शताब्दी से आगे तक।

(१३) प्राकृत, इन देशी भाषाओ का साहित्यिक रूप, विशेषकर महाराष्ट्री। इसका विकास नं० ११ (सस्कृत) से न होकर नं० १२ से हुआ जो न० ६ की अवरज बोलियो का परवर्ती रूप थीं। (देखिए, बुद्ध-कालीन भारत) इनमें केवल न० १, ३, ५, १२ की भाषाएँ जनता की बोलचाल की भाषाएँ थीं।

अनिवार्य सिंचाई के साधनो के अभाव के कारण उसके सकटो में और वृद्धि हो गई। आवश्यक स्थायित्व की पूर्ति के लिये वर्ण-व्यवस्था की जटिलताओ और सयुक्त परिवार का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु इससे भारत का अर्धसामन्तवाद और अधिक विरूपित हो गया। वर्ण-व्यवस्था ने इसमें सामन्ती सम्बन्धो के विकास के साथ-साथ दासत्व पर अधारित शोषण के आकार-प्रकार को सुदृढ कर दिया और सयुक्त-परिवार प्रथा ने बडी भूसम्पत्ति की सम्भावना कम कर दी जो यूरोप के सामन्तवाद की मुख्य विशेषता थी।

इन प्रवृत्तियो ने भारत को खण्डित ही नही किया किन्तु इसका परिणाम यह भी हुआ कि उत्पादी ससाधनो बहुत अवह्रास हो गया, जिससे भारत का पश्चिम से व्यापार खतम हो गया और बहुत-सा प्रौद्योगिक ज्ञान समाप्त हो गया। रासायनिक विशुद्ध लोहे का उत्पादन, (जिसका नमूना महरोली के लौह स्तम्भ में उपलब्ध है) और अशोकस्तम्भ, (जो प्रत्येक तोल में पचास टन और माप में चालीस फीट था) के प्रामार्जन और परिवहन की तक्षणकला सामन्तशाही के प्रारम्भिक काल की थोडी सी प्रौद्योगिक क्रियाएँ है, जो उत्तर-गुप्तकाल मे सामन्तवाद के कुरूपित हो जाने से समाप्त हो गईं। नीरो (देहात ६६ ई०) के राज्य के बाद रोम-साम्राज्य के वित्तीय कष्टो का मुख्य कारण सुवर्ण का निकास था जो भारत से व्यापार के कारण होता रहा था।[1] इस प्रकार गुप्तकाल के बाद की सहस्राब्दी मे पश्चिम से व्यापार बन्द हो जाने से भारत को कितनी हानि हुई यह इससे जाना जा सकता है कि यूरोप में सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर बढने में जो औद्योगिक क्रियाएँ सहायक हुईं वे उसके बाइजेंटियम[2] के व्यापार द्वारा चीन से आईं। मध्यएशिया अथवा दक्षिण साइबेरिया में आविष्कृत हुए भारी हल जिनमें आठ बैल जोते जाते थे और जिन्होने मध्ययुगीन यूरोप की 'मैनर' सस्था के प्रौद्योगिक आधार उपलब्ध किए, भारत में नही आये। काठक-सहिता (१५/२) में चौबीस बैलो से खीचे जाने वाले हलो (सीर) का उल्लेख है किन्तु सामन्तकाल में इनका कही चिन्हमात्र भी नही। सामन्तशाही खेत और

१. दे० ई० एच० वारमिंग्टन कामर्स बिटवीन दि रोम एम्पायर एण्ड इण्डिया, केम्ब्रिज—१९२८।

२. 'बाइजेण्टियम इन्टू यूरोप' में जैक लिण्डसे लिखते है—"मध्य एशिया और मध्य यूरोप का आधुनिक यूरोप के निर्माण मे जो अंशदान है वह एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। हमें बाद के राजनीतिक भूगोल को अलग कर देखना चाहिए कि उन दिनो पश्चिमी यूरोप से अल्टाई पर्वत तक फैला हुआ एक क्षेत्र था।"

सडको के लिए घोडे का युग था। भारत में घोडा सदा विलास-पशु रहा है और उसका आधुनिक कनपट्टा तथा नाल यद्यपि मध्यएशिया में आविष्कृत हुए थे किन्तु भारत में यह और स्थानो की अपेक्षा बहुत देरी से पहुँचे थे। भारत में 'ग्राम-पद्धति' के विकास के कारण उपजातियो और ग्राम समुदायो का पृथक्करण और ठोस हो गया। शिल्प और कृषि के योग से घटित यह ग्राम पद्धति' विभिन्न प्रकार के धन्धो के स्वतन्त्र वर्ग-सगठनो और ग्राम मुखिया की सस्था पर आधारित थी। ग्राम मुखिया की सस्था यद्यपि इस अर्धसामन्ती प्रणाली मे समामेलित थी किन्तु इसने सामन्तो-भूपतियो और उनकी असामियो-प्रजाओ के बीच सुनिश्चित पट्टे के सम्बन्धो के विकास में बाधा डाली। यूरोपीय सामन्तशाही का आधार इसी पर सस्थापित था।

उपरोक्त परिस्थितियो ने, यद्यपि उपजातीय भाषाओ का एक विशाल सविलयन असम्भव कर दिया, किन्तु यह श्रेणियो मे सगठित व्यापारी-समुदायो की कृत्रिम वर्गभाषाओ का प्रादुर्भाव रोक न सकी। सस्कृत विद्वत्ता और विधि-विधान की भाषा के पद पर आसीन रही। मध्य प्राकृतो के व्याकरण तक सस्कृत में लिखे गए थे, सामान्यत वे प्रशासन और व्यापार की भाषाएँ थी। यह घटनावश न था कि व्यापारी वर्गो में बौद्ध और जैन धर्म प्रथम सहस्राब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा, तथा पालि, अर्धमागधी और मागधी अपने उद्गम-स्थान से निर्वासित होने पर भी मध्य और दक्षिण भारत के व्यापारी समुदायो द्वारा पोषित होती रही। निरन्तर हिसा और युद्ध द्वारा सबसे अधिक क्षति व्यापारी समुदायो को ही होती थी और ये धर्म हिसा को प्रोत्साहन नही देते थे। यह भी घटनावश न था कि इस गुप्तोत्तर काल का एकमात्र विशाल साम्राज्य, यद्यपि वह प्रकृति में सामन्तशाही था, हर्ष का था, जिसे ह्वेन साग ने वैश्य[1] कहा है। उस काल में मथुरा के आसपास के प्रदेश का नाम शौरसेन था। मध्य प्राकृत में सबसे महत्त्वपूर्ण शौरसेनी मथुरा तथा प्रतिवेशी नगरो के व्यापारी-सम्प्रदाय के प्रभाव से उद्भूत हुई। यमुना-तट के 'मधुरा' का बुद्ध के समय मे केवल उल्लेख मात्र ही मिलता है, किन्तु मिलिन्दपह्ला में उसका वर्णन भारत के सर्वप्रसिद्ध स्थानो में किया गया है। यद्यपि शौरसेनी राज्य थोडे समय तक ही आधुनिक लाहौर से आधुनिक

१ 'ह्वेन साग' वाटर्स द्वारा अनुवादित। डॉ० भूपेन्द्रनाथदत्त ने एक नये खोजे हुए बौद्ध-ग्रथ 'मंजुश्रीमूलकल्प' का हवाला दिया है जिसमें हर्ष को वैश्य कहा गया है और पश्चिमी बगाल के ब्राह्मण राजा से उसके युद्धो का वर्णन है। (स्टडीज इन इन्डियन सोशल पॉलिटी)

इलाहाबाद तक रहा, किन्तु वर्गों में सगठित वैश्यो की महत्ता मथुरा और उत्तर भारत के अन्य नगरो में बनी रही। बाद मे हर्ष ने, जो स्वय वैश्य था, गुप्तकाल के वैभव को पुनर्जीवित कर शौरसेनी प्राकृत को नवीन प्रोत्साहन दिया। शौरसेनी को अपने अपभ्र श रूप में पुन प्रोत्साहन तब मिला जब निम्नवर्ग के गुर्जर-प्रतिहारो ने शौरसेनी क्षेत्र के कान्यकुब्ज में अपना राज्य स्थापित किया। उन्होने व्यापार को प्रोत्साहन दिया और सिंचाई के विशाल साधनो के निर्माण से समृद्धि प्रदान की। उनमें से एक भोपाल का ताल था जिसका क्षेत्रफल २५० वर्गमील था, जिसे बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियो ने नष्ट कर दिया था। किन्तु आज भी भारत के सिंचाई के साधनो में वह सर्वोत्तम है।

सस्कृत नाटको में प्राकृत की उपस्थिति पर बेकार ज़ोर दिया गया है और यह इस बात का प्रमाण माना जाता है कि प्राकृत बोलचाल की भाषा थी। यथार्थ में नाटकीय प्राकृतें इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ये भाषाएँ आम बोलचाल की न होकर विभिन्न श्रेणियो तथा वर्गों की कृत्रिम भाषाएँ थी। अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास आदि, विभिन्न प्रदेशो के लोगो के लिए नही, विविध श्रेणियो तथा वर्गो के लिए विविध प्राकृतो का व्यवहार करते थे। 'मृच्छकटिक' के अनुसार विदूषक प्राच्य का प्रयोग करता है, वीरक आवन्ती का और स्थावरक, कुम्भीलक, वर्धमानक आदि मागधी का। 'शकुन्तला' में मछुए, पुलिस कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का प्रयोग करते है। सस्कृत नाटको में मागधी कई रूपो मे उपलब्ध है। शाकारी, शाबरी, चाण्डाली आदि श्रेणी-भाषाएँ मागधी का ही विकृत रूप मानी जाती है और शौरसेनी महिलाओ, शिशुओ, नपु सको और ज्योतिषियो आदि की भाषा है। नाटको मे अधिकतर प्राकृत भाषी पात्र निम्न वर्ग के नही, वरन् धनी और प्रतापी श्रेष्ठी है और ये पात्र साहित्यिक प्राकृत बोलते है, बोलचाल की भाषा नही। "उस काल में जब नाटक लिखे गये थे सब लोग साधारण दैनिक जीवन में न सस्कृत बोलते थे न प्राकृत, किन्तु देशी भाषा बोलते थे।"[1] डॉ० सु० कु० चटर्जी[2] ने भी इस तथ्य पर ज़ोर दिया है कि "अधिकाश प्राकृतो की साहित्यिक आकृति के कृत्रिम स्वरूप को ध्यान मे रखना होगा।" इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण शौरसेनी है "जो सस्कृत से अन्य प्राकृतो की अपेक्षा अधिक सादृश्य रखती है।"[3] महाराष्ट्री को अब शौरसेनी प्राकृत के ही एक रूप में महाराष्ट्र की नही किंतु गगा-यमुना दोआब के विशाल

१. रिह्स डेविड्स—'बुद्धिस्ट इण्डिया'
२ सु० कु० चटर्जी—'इण्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी'
३ प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती—'लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन ऑव दि हिन्दूज़'

राज्य की भाषा स्वीकार किया गया है।[1] वास्तव में शौरसेनी और महाराष्ट्री विभिन्न लोगो द्वारा व्यवहार में लाई गई भाषाएँ नही थी किन्तु विभिन्न रचनाओ के लिए थी—महाराष्ट्री पद्य के लिए और शौरसेनी गद्य के लिए। मध्य प्राकृतो की भाषाओ के सकर रूप और उनके भेद यह प्रमाणित करते हैं कि वे बोलचाल की भाषाएँ न थी। सस्कृत व्याकरण के रूपो का उनमें समावेश उनके कृत्रिम स्वभाव को प्रकट करता है[2]।

इस प्रकार प्राकृत भाषाएँ जो अपने आदिकाल में, जब वे बुद्ध और जैन-धर्मो के साथ अस्तित्व में आईं, आम बोलचाल की भाषाएँ न होने पर भी उनके बहुत सन्निकट थी। किन्तु यह नैकट्य क्रमश कम होता गया और वे जन-भाषाओ से दूर हटती-हटती धीरे-धीरे प्रामाणिक सस्कृत सी कृत्रिम बन गईं। उसी काल मे सस्कृत रामायण और महाभारत का आधुनिक रूप मे सम्पादन हुआ था और उनकी मध्य प्राकृत की किसी भी कृति से अधिक लोकप्रियता उस काल की प्राकृतो के सस्कृत तुल्य कृत्रिम और सीमित समुदाय की भाषा होने का प्रमाण है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिलालेख्य प्रमाण उस काल की भाषा-सम्बन्धी स्थिति का बहुत एकपक्षीय चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्राकृतो का तीसरा वर्ग अपभ्रंश है जिसके बारे में ऐसा विश्वास है कि भारतीय-आर्य भाषाओ के विकास में उसकी अवस्था उत्तरमध्य भारतीय-आर्य और नवीन भारतीय-आर्य के बीच मे है। आर्य बोलियो मे यह परिवर्तन छठी और बारहवी शताब्दी ईस्वी के बीच मे हुआ माना जाता है। अपभ्रंश से उस साहित्यिक भाषा से तात्पर्य है जिसमे ५०० ई० से १२०० ई० तक काव्यरचना हुई और जिसे अपभ्रंश-लेखको ने स्वय तथा प्राकृत वैयाकरणो ने अपभ्रंश का नाम दिया है। अपभ्रंश भाषा मे बहुत से भेद थे और मार्कण्डेय ने अपनी मुख्य अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश कहा है। वे इसे स्पष्ट रूप से पच्छिमी भारत

१. एस० ए० डागे का निम्न कथन ठीक नही प्रतीत होता "(आधुनिक) महाराष्ट्री का अस्तित्व बोली के रूप मे बुद्धकाल (छठी शताब्दी ई० पू०) तक खोजा जा सकता है। उसका व्याकरण २०० ई० पू० मे लिखा गया था। उसे शातवाहनो ने स्वीकार कर राजभाषा बनाया और शताब्दियो के विकास के बाद वह महाराष्ट्री भाषा बनी" (नोट्स आन मेडिवियल मराठी लिटरेचर-इण्डियन लिटरेचर न० २, १९५२)। डा० वूलनर ने "इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत" में स्थापित किया है कि महाराष्ट्री प्राकृत, महाराष्ट्र की भाषा का नाम न होकर, केवल शौरसेन (मध्य देश) की भाषा के लिए स्तुतिमय पद था।

२. देखिए प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आॅव दी हिन्दूज।"

की प्राकृतो महाराष्ट्री और शौरसेनी के साथ गिनते हैं।

जी० ए० ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम इस विचार को प्रस्तुत किया था कि उत्तरी भारत की भाषाएँ अपभ्रंश भाषाओ से निकली हैं। उन्होने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के प्रस्तावना-खण्ड में यह स्थापित करना चाहा है कि प्रत्येक नवीन भारतीय-आर्य बोली की पूर्ववर्ती एक कल्पित अपभ्रंश थी। यद्यपि इस धारणा को परवर्ती लेखको ने ग्रहण किया है फिर भी अब तक खोजे हुए लेख्य-प्रमाण से इसकी पुष्टि नहीं होती। बहुत थोडे लेखको ने इस बात का विवेचन किया है कि जिस अपभ्रंश को पूर्व वैयाकरणो ने उत्तर-पश्चिम में आभीरो की भाषा कहा है वह बाद में जैन लेखको द्वारा गुजरात, राजस्थान और दक्षिण भारत मे साहित्यिक रचना की भाषा कैसे हो गई।

अपभ्रंश साहित्य के विकास-क्रम का, उसके स्थान-काल-अन्वय द्वारा अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि आधुनिक उत्तरी भारतीय भाषाओ की पूर्वज परम्परा का किसी भी ऐसी अपभ्रंश भाषा में, जो उत्तर भारत के सम्पूर्ण या अधिकाश भूभाग में बोली जाती हो, ढूँढना भूल होगी। अपभ्रंश इस तथ्य का प्रतिबिम्ब है कि प्रथम सहस्राब्दी ई० के द्वितीय अर्धक मे जनता की बोलचाल की भाषाओ में क्या परिवर्तन हुए थे। अपभ्रंश कई सभाषणेतर भाषाओ का सामान्य नाम था जो आभीरो और सम्बन्धित कबीलो की बोलियो, तथा उत्तरी, पच्छिमी और मध्यभारत की उन उपजातियो की भाषाओ के मिश्रण के परिणामत बनी थी जिनपर उन्होने शासन किया।

अपभ्रंश का पहला वास्तविक निर्देशन हमें भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' (३३० ई०) में मिलता है, जिसमें उसे सस्कृत और देशी से पृथक् विभ्रष्ट भाषा तथा 'आभीरादिगिर' कहा गया है। इस प्रकार भरत ने अपभ्रंश का निर्देशन बर्बरी भाषा की स्थिति में किया है जिसे यायावर लोग बोलते थे, जो गाय-बैल, भेड-बकरी, घोडे और ऊँट पालते थे (भ० १७, ४७, ४८, ५५)। तीन शताब्दियो के बाद अपभ्रंश ने साहित्यिक भाषा की स्थिति प्राप्त कर ली थी और भामह ने अपभ्रंश को कविता की भाषा के रूप में माना है (काव्यालकार १, १६, २६)। अपभ्रंश का यह साहित्यिक पद काठियावाड में प्राप्त वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र से पुष्ट होता है। अपने प्राकृत व्याकरण में कणाद द्वारा अपभ्रंश की स्वीकृति इसी निष्कर्ष की ओर सकेत करती है। नवीं शताब्दी में रुद्रट ने अपभ्रंश को प्रान्तीय बोलियो के लिए, जिनकी सख्या बहुत थी, सामान्य पद के रूप में माना है। दसवी शताब्दी में राजशेखर ने इसे सस्कृत और पालि के समान साहित्यिक भाषा के रूप में निरूपित किया और इसका विस्तार-क्षेत्र

सकल मरुभूमि, टक्क और भदानक बताया है। ११वीं शताब्दी में एक पूर्वी बौद्ध प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने, अपभ्रंश को शिष्टजनो की भाषा कहा है और अपभ्रंश की विशिष्टता के लिए सुसस्कृत लोगो के व्यवहार का निर्देशन किया है। एक अन्य टीकाकार सिंहदेव ने वाग्भट के 'वाग्भटालकार' की टीका मे इन अपभ्रंश बोलियो का स्थान-निर्धारण द्राविड प्रदेशो में किया है।[1] १७वीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद गिनाए हैं।

अपभ्रंश की प्रकृति और स्थिति के बारे मे उपरोक्त परिवर्तन कोई उलझन पैदा नही करेंगे, यदि हम उसकी वृद्धि और विकास सम्बन्धी अध्ययन आभीरो के इतिहास के साथ करें। महाभारत के अनुसार, जिसमें आभीरो का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, ये उपजातियाँ पचनद में रहती थी। ईसवी सवत् के प्रारम्भ होने के समय, उत्तर-पश्चिम की ओर से निरन्तर आक्रमणो के दबाव के कारण वे गुजरात, काठियावाड और प्रतिवेशी क्षेत्रो में चली गयी। इसकी पुष्टि काठियावाड में प्राप्त १८१ ई० की राजाज्ञा से होती है जिसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति का उल्लेख है। नासिक में प्राप्त ३०० ई० के एक शिलालेख में आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर सकेत है। इलाहाबाद में समुद्रगुप्त के लौहस्तम्भ के एक लेख (३६० ई०) से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक आभीरो का प्रभुत्व मालवा और राजस्थान में हो गया था और वे झांसी तक फैले हुए थे। इन उपजातियो मे से कुछ पूर्व और दक्षिण तक पहुँच गई थी। मिर्जापुर में अहरौरा नाम से आभीरो का प्रभाव प्रतीत होता है तथा ताप्ती से लेकर देवगढ के क्षेत्र का नाम भी इन्ही का दिया हुआ है। खानदेश में भी आभीरो की बस्तियाँ थी जहाँ उन्होने अपने गोत्रसघ स्थापित किए थे। ऐसा लगता है कि कालान्तर में शाक्यो और गुर्जरो का मिश्रण आभीरो में हो गया। राजस्थान की पिछली उपजातियो को तितर-बितर करके उनके स्थानो में बसने के बाद हूण भी उनमें मिल-जुल गये। इन उपजातियो ने मध्ययुग के कुछ महान् शक्तिशाली राज्यवशो को जन्म दिया। आधुनिक राजपूत उपजातियो और गोत्रो में से बहुत से इन्ही मे से उद्भूत हुए हैं। हिन्दू समाज को दुर्भेद्य वर्ण-व्यवस्था में पाकर और उसमें अपना स्थान न बना सकने के कारण इन उपजातियो ने जैन-धर्म स्वीकार कर लिया और जैन साधुओ तथा जैन विद्वानो को राजाश्रय दिया। सातवीं शताब्दी के बाद जब इन सामन्तशाही रजवाडो का प्रभुत्व और महत्त्व बढा तब इनकी राजदरबार की भाषा, जो स्थानीय बोलचाल की भाषा से आभीर और गुर्जर बोलियो के मिश्रण

१ देखिए, जी० वी० टेगोर · हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश।

से बनी थी, साहित्यिक भाषा में विकसित होने लगी।

इस अपभ्र श भाषा को और प्रोत्साहन तब मिला, जब मिहिरभोज और महेन्द्रपाल के गुर्जर प्रतिहार राज्य ने गुप्त और हर्ष साम्राज्यो के यश को पुनर्जीवित किया। उनकी राजधानी कन्नौज होने पर भी उनके दरबार की भाषा में गुजराती और राजस्थानी तत्त्व बने रहे। जितनी भी अपभ्र श कृतियाँ प्रकाश में आई है वे सब इसी 'जैन-गुर्जर अपभ्र श' में है।[1] ग्रियर्सन ने इस शती के प्रारम्भ में आधुनिक हिन्दी का उद्‌गम शौरसेनी अपभ्र श के विघटन से किया है, किन्तु उसके बाद बीसियो अपभ्र श ग्रन्थ खोजे जा चुके है और उनमे से किसी की भी भाषा ऐसी नही है जो खडी बोली हिन्दी का पूर्वरूप कही जा सके। इस सम्बन्ध में श्री शिवप्रसादसिह लिखते है[2] "अपभ्र श भाषा की विपुल सामग्री के प्रकाश में आ जाने के कारण, नव्य भारतीय आर्य भाषाओ के अध्ययन की एक विस्तृत कडी का सन्धान हुआ है, किन्तु अभाग्यवश इस पुष्कल सामग्री का अधिकाश, हिन्दी के अध्ययन की दृष्टि से अवान्तर महत्त्व की वस्तु है। ऐसा तो नही है कि इनमे हिन्दी के विकास-क्रम को समझने में कोई सहायता मिल ही नही सकती। परन्तु इनमें से कोई भी रचना ऐसी नही है जिसे आप हिन्दी की आरम्भिक रचना कह सके"। केवल एक ऐसी अपभ्र श कृति की खोज की जा सकी है जिसका पश्चिमी हिन्दी की बोली से कोई सम्बन्ध ढूँढा जा सकता है और वह प्राकृत पैगलम् है जिसमें पुरानी ब्रज के तत्त्व है।[3] उस काल की चौमूह सयभू द्वारा रचित 'प्राचीनतम उपलब्ध हिन्दी रामायण' मे अपभ्रंश-कालीन अवधी के ही कुछ तत्त्व है, यदि वह किसी एक ही भाषा मे मानी जा सके।

अपने प्राचीन रूप में खडी बोली भी उस काल में अन्य भाषाओ और बोलियो के साथ अस्तित्व मे थी। यदि खडी बोली के अपभ्र श रूप की कोई कृति उपलब्ध नही है तो उसका कारण यह है कि उस काल मे खडी बोलो किसी राज्य की दरबारी भाषा नही थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ये अपभ्र श सर्वसाधारण में व्यवहृत आम बोलचाल की भाषाएँ नही थी किन्तु केवल वर्गभाषाएँ थी जो भिन्न भिन्न दरबारो में उत्पन्न हुईं। बारहवी शताब्दी में थोडे काल के लिए तोमरो के अधीन दिल्ली और उसके आसपास

१. पुरातत्त्व विभाग द्वारा कन्नौज में की गई खुदाई में जैनियो की गुर्जर प्रतिहार वश के समय की बहुत सी प्राचीन वस्तुएँ मिली है।

२ शिवप्रसादसिह प्राकृत पैगलम् में प्राचीन ब्रज के तत्त्व—कल्पना, हैदराबाद सितम्बर १९५५।

३ वही।

के क्षेत्र में ऐसा एक राज्य था, किन्तु पालम बावली (१२८० ई०) के शिला-लेख की भाषा, जिसमें तोमर तथा बाद के 'शाक्य' राजाओ 'साहावादीना' (शाहाबुद्दीन) 'खुदुवादीना' (कुतुबुद्दीन) और 'असामासादीना' (शम्सुद्दीन) के राज्यो का उल्लेख मिलता है, पुरानी खडी बोली की अपेक्षा पुरानी बागडू (गुडगाँव की हरियानवी) के अधिक सन्निकट है।

आभीर और गुर्जर राज्यो के ह्रास के समय में भी व्यापारी वर्गों और समुदायो ने अपभ्र श को ही अपनाया। हेमचन्द्र तथा अन्य वैयाकरणो ने इस भाषा को बोलचाल की भाषा से भिन्न माना है। दक्षिण और मध्यभारत के व्यापारी समुदाय इन शताब्दियो में जैन धर्म में आस्था बनाये रहे। उत्तर भारत की अपेक्षा इन प्रदेशो में कम गडबडी रही थी। इसलिए कृषि और कलाकौशल मे स्थायित्व बना रहा और इन प्रदेशो मे व्यापार में खूब उन्नति हुई। यूरोपीय यात्री पाइस ने उस समय के विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी जनसख्या रोम से अधिक थी और उसमें एक लाख घर थे[1]। व्यापारी निगमो ने दक्षिण में प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। इन व्यापारी समुदायो के बढते हुए महत्त्व के कारण जैन-गुर्जर अपभ्र श फल-फूलकर दिगम्बर जैनियो की महान् साहित्यिक भाषा बन गई, और शिष्ट समुदाय द्वारा भी अपना ली गई।

इसमें कोई सन्देह नही कि जितना भी अपभ्र श साहित्य, प्रकाशित या अप्रकाशित, उपलब्ध है उसमें उस काल में बोली जाने वाली भाषाओ की मुख्य विशिष्टताओ के सार तत्व मौजूद हैं, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि वे अपभ्र श उस समय की जनता की वास्तविक बोलचाल की भाषाएँ न थी और पहले की प्राकृतो के समान, अगरचे उनसे कुछ कम, कृत्रिम भाषाएँ थी। जब तक अपभ्र श पद को साहित्यिक भाषाओ की बजाय केवल मध्य भारतीय-आर्य भाषाओ की कल्पित तीसरी अवस्था पर लागू न किया जाय, जिसके लेख्य प्रमाण अभी उपलब्ध नही हैं, यह नही कहा जा सकता कि आधुनिक भारतीय भाषाओ का उद्गम इन के विघटन से हुआ है। निस्सन्देह उस काल की बोलचाल की भाषाओ की छाप उन साहित्यिक अपभ्र श भाषाओ पर स्पष्ट है। किन्तु इन सम्भाषणेतर वर्ग भाषाओ से बाद की आम बोलचाल की भाषाएँ उत्पन्न हुई हो, ऐसा तर्कसगत नही प्रतीत होता।

जनसाधारण एक महान् शक्ति है जो समस्त भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का निर्माण करती है। जनता की निर्माण-प्रतिभा अद्वितीय है और वह

१ आर० स एल ए फारगोटन एम्पायर।

ही साहित्यिक और सांस्कृतिक कृतियो की तथा भाषाओ की भी, वास्तविक निर्माणकर्त्ता है जिनमें ये सांस्कृतिक परम्पराएँ सीप में मोती के समान सुरक्षित है। जनता ही ने जीवित बोलचाल की भाषाओ के इस प्रवाह को चिरस्थायी रखा जिसमें विकास-क्रम की असख्य प्रवृत्तियाँ निरन्तर चलती रही। यद्यपि इस मुख्य प्रवाह से पृथक् हुई कृत्रिम भाषाओ को अलग से तीन या चार स्पष्ट अवस्थाओ में बाँटा जा सकता है, किन्तु जीवित भाषाओ का ऐसा विभाजन नही किया जा सकता, क्योकि निरन्तर परिवर्तित होते रहने पर भी उनकी एक अवस्था और आगामी अवस्था में कभी भिन्नता प्रतीत नही होती।

कबीर ने कुछ शताब्दियो के बाद कहा था कि सस्कृत कूपजल है और बोलचाल की भाषा बहते हुए नीर के समान है। इन बोलचाल की भाषाओ से ही, जो उस काल तक उपजातियो और नवजात जातियो और क्षुद्र राष्ट्रो तक सीमित रही है और जो सदा स्वपोषित और स्वगतिशील होकर अपने क्षेत्र में ही अलग-अलग बहती रही है, हमें आधुनिक भारतीय भाषाओ की पूर्वजपरम्परा की खोज करनी होगी। यह कृत्रिम साहित्यिक भाषाओ द्वारा नही हो सकेगा जो अपनी वृद्धि मे उतनी ही परजीवी थी जितना कि वह वर्ग जिसने उनका निर्माण किया था।

अध्याय ५

हिन्दी के आदिकाल से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति

अपभ्रंश भाषाओं के बाद हम उस काल में आते हैं जब आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रारम्भ माना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसी काल में पहली सहस्राब्दी के फौरन बाद शौरसेनी अपभ्रंश के विपाटन के फलस्वरूप, पंजाबी, गुजराती, मराठी इत्यादि के साथ-साथ हिन्दी भी अस्तित्व में आई। इस आदिकालीन-हिन्दी के आकस्मिक प्रकट होने का कोई कारण नहीं दिया जाता, केवल यही कहा जाता है कि भारत में इस्लाम के प्रभाव के परिणामस्वरूप आदिकालीन-हिन्दी के भक्ति-काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह महान् मानवतावादी आन्दोलन, जो सामान्यतया भक्तिमार्गी कहा जाता है, भारतीय मनीषा और चिन्तन के अन्धकार मे अकस्मात्, ग्रियर्सन के शब्दों में, विद्युत् की चमक के समान आया। कुछ लोगों ने किसी कारण के प्रस्तुत किये बिना ही यह धारणा प्रकट की है कि भक्ति आन्दोलन दक्षिण से उत्तर में आया। आम तौर पर यह ग्रहण नहीं किया जाता कि इस आन्दोलन में दो ऐसी भारतीय विचारधाराओं का संगम हुआ था जो लगभग एक सहस्राब्दी से समानान्तर चली आ रही थी।

प्राकृतों और अपभ्रंशों के न्यूनाधिक कृत्रिम स्वभाव पर ऊपर विमर्श किया जा चुका है और यह भी बताया जा चुका है कि एक विशाल अशिक्षित जनसमुदाय की साधारण बोलचाल की भाषा की उत्पत्ति कठिन कृत्रिम भाषाओं से नहीं हुई जिन्हें न उनके पूर्वज जानते थे और न बोल ही सकते थे। हमने यह भी देखा कि कई कृत्रिम भाषाओं के उत्थान और पतन के साथ-साथ, आज की बोलचाल की भाषाएँ जनता की ज़बान पर बसी रही हैं। उस काल में बोल-चाल की भाषाओं के सरलीकरण की क्रमिक प्रवृत्तियाँ, जीवन के अनेक विभागों में श्रम साधनों के सरल होने के साथ-साथ निरन्तर विकसित होती रहीं : उप-

जातियो और नवोदित जातियो और क्षुद्र राष्ट्रो की विभिन्न बोलचाल की भाषाओ में विभक्ति और प्रत्ययो का क्रमिक लोप और सश्लेषण से विश्लेषण की ओर निरन्तर वृद्धि एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गई थी, जब हमारी आज की भाषाओ से उनका वैभिन्य अधिक न था। कई जटिल परिवर्तन और विकास, परशब्दग्रहण और अनुवर्तन, जिन्होने हमारी भाषाओ के निर्माण में अशदान दिया है, उस समय तक, यदि पूर्णत नही तो मुख्यतः, निष्पादित किये जा चुके थे, और इन्होने बहुत-कुछ विभक्ति और प्रत्यय का वह अनोखापन ग्रहण कर लिया था जिसके द्वारा हम अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार कर चुके है, जो हमारे पूर्वजो के लिए कठिन था। किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओ को उद्गमन के लिए व्यापार सम्बन्धी अर्थव्यवस्था के विस्तार और उपजातियो और क्षुद्र राष्ट्रो में बडे पैमाने पर परस्पर-व्यापार द्वारा एक राष्ट्रीय बाज़ार के विकास की प्रतीक्षा करनी थी। इस प्रकार ही उस काल की बोलचाल की भाषाएँ विकसित और सरोहित होकर आज की राष्ट्रीय भाषाएँ बन सकती थी। इसलिए आदिकालीन-हिन्दी से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति का अध्ययन, उस काल की साहित्यिक भाषाओ की प्रकृति के उचित मूल्याकन के लिए आवश्यक है। इसके बिना यह स्पष्ट नही होता कि आधुनिक हिन्दी भाषा का प्रारम्भ उनसे हुआ, या वे केवल वैसी ही सम्भाषणेतर कृत्रिम भाषाएँ थी जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

इस्लाम के आक्रमण से ईरान की तरह प्राचीन भारतीय सस्कृति नष्ट-भ्रष्ट नही हुई। परन्तु वह रूढिप्रधान परम्परा की बद्ध-परिधि मे सकुचित होकर रह गई। मुसलमानो का भारत के समाज पर उत्पादन-साधनो की दृष्टि से किंचित् फलप्रद प्रभाव नही पडा, जैसा उनके द्वारा यूरोप मे हुआ जब स्पेन पर अधिकार हो जाने पर उन्होने वहाँ वैज्ञानिक ज्ञान का सचार किया। भारत में विभिन्न वर्गों में निरन्तर सघर्ष चलता रहा था, यद्यपि इसका अल्प प्रमाण ही कई अहिन्दू और हिन्दू सम्प्रदायो एव मतो के साहित्य मे उपलब्ध है। मुसलमानो ने क्षत्रियो और अन्य राज्यवशो के प्रभाव को नष्ट कर दिया और इस प्रकार उन्होने जनता पर ब्राह्मणो के प्रभुत्व और अधिकार को बढाने में सहायता दी। इससे वर्ण-प्रतिबन्धन और विस्तृत हो गया तथा उसके व्यवहार में उत्तरोत्तर कठोरता आती गई। इस प्रकार समस्त अमुस्लिम भारतीय समाज ब्राह्मणो के प्रभाव-क्षेत्र में चला गया।

यह सोचना गलत है कि भारत में मुसलमानो के आने से पूर्व इस महाद्वीप की समस्त जनसख्या ब्राह्मण धर्मानुयायी थी। उपलब्ध साहित्य

के आधार पर यह बहुत-कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत के लोगो की एक बडी संख्या, प्रथम सहस्राब्दी ई० तक उस धर्म में विश्वास नही करती थी जिसे आजकल हिन्दूधर्म कहा जाता है ।[1]

समाज का सामन्ती पुनर्गठन उपयोगी विज्ञानो को अनावश्यक बना देता है । भारत में तो इससे वैज्ञानिक विचार बिलकुल जड हो गए । इसका कारण वह सास्कृतिक अधिसरचना (ऊपरी ढाँचा) थी जो हमारी विशिष्ट प्रकृति की नीव पर विकसित हुई । भारतीय सामन्ती समाज के कुछ दोष और विशिष्टताएँ पिछले अध्यायो मे बताई जा चुकी है । इस अधिसरचना का एक तत्त्व, जिसने आधार को सबसे अधिक प्रभावित किया, वर्ण-व्यवस्था का जटिल सामाजिक विधान था जिसकी वृद्धि होती गई और जो निरन्तर कठोर और अपरिवर्तनशील होता गया । इसका वास्तविक उद्गम दास युग के वर्णो से नही, किन्तु उपजातीय सश्लेशण तथा विभिन्न धन्धो के व्यावसायिक सगठनो द्वारा हुआ था जिनका विस्तार ईसा सम्वत् के कुछ पहले से नई दस्तकारियो और कलाओ के विकास और नवीन जातीय वर्गो के भारतागमन द्वारा निरन्तर होता रहा[2] । बाद की शताब्दियो मे बहुत अधिक सख्या में आने वाली उपजातियो और कबीलो के कारण इस क्रम में बहुत तेजी आ गई थी ।

दूसरा तत्त्व कर्म-विपाक और आवागमन के सिद्धान्तो का विकास था, जिसने बहुत हद तक उस सामाजिक पद्धति के आध्यात्मिक अभावो की पूर्ति की, जो शोषितवर्ग को केवल निराशा और शाश्वत दासता के अतिरिक्त और कुछ भी नही दे सकती थी । इसमें अत्यन्त शोषित और हीनतम मनुष्यो तक को आशा की झलक दिखाई गई बेशक अगले जन्म में ही । मुसलमानो या ईसाइयो का परम्परागत नरक-स्वर्ग इस योग्य न था कि भारत की नवीन सामाजिक व्यवस्था के अभावो की पूर्ति कर सकता । मोक्ष-सिद्धान्त द्वारा शोषण और सामाजिक उत्पीडन को, पिछले कर्मों का फल और अटल होनी बतलाकर, बिना किसी बल दमन के स्वीकार कराया गया । इस तरह नवीन सास्कृतिक अधि-

१ 'रिलीजन आव इण्डिया' में प्रो० हापकिन्स लिखते हैं—"ब्राह्मणवाद सर्वदा सागर में द्वीप के समान रहा है । ब्राह्मण युग मे भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वह थोडे लोगो का विश्वास था" ।

२ इसका प्रमाण सर एथलस्टेन बेन्स द्वारा रचित 'इथनोग्राफी (कास्टस एण्ड ट्राइब्स)' में दी गई वर्ण और जाति समुदायो के पेशो और धन्धो की सूची से मिलता है ।

सरचना ने वर्ग-युद्ध को मन्द और विकृत कर दिया और इससे समाज में अपरिवर्तनशीलता व वृद्धिरोध हो गया।

इस अधिसरचना के अपने आवश्यक अग थे—जैसे मोक्ष की छ दर्शन प्रणालियाँ—न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त। न्याय और वशेषिक एक-दूसरे के परिपूरक थे। ये तर्क और प्रमाण का प्रतिपादन करते थे और इनमें वैज्ञानिक चिन्तन के कुछ तत्त्व थे। दूसरी और तीसरी शताब्दी तक, जब पतजलि ने अपना योगशास्त्र लिखा, ये पद्धतियाँ फीकी पड चुकी थी और बाद मे दोनो मिलकर एक हो गईं। पूर्व-मध्ययुग में जब वैराग्य-भावना का प्राधान्य था तब साख्य और योग प्रमुख सास्कृतिक शक्ति बन गये। इनमें भी योग का प्रभाव साख्य से अधिक था क्योकि यह अधिक वैराग्य-प्रधान था तथा अन्य दर्शनो की अपेक्षा इसमें पलायन द्वारा समाज की दुष्प्रवृत्तियो पर 'विजय' प्राप्त करने की अधिक चेष्टा थी। कालान्तर में जब कृषि तथा ग्रामीण जीवन अधिक समृद्धिशाली हो गये और सामाजिक दुष्प्रवृत्तियाँ नितान्त असहनीय न रही और कम हानिप्रद हो गई, तब धार्मिक मतो ने एक नवीन स्वरूप ग्रहण किया। इसमें उन सामाजिक दोषो का अस्तित्व अस्वीकार तो न किया गया, किन्तु उनपर आँखे मूँद ली गईं। इस तरह पाँचवी और छठी दर्शन प्रणालिया मीमासा और उत्तरमीमासा अथवा वेदान्त सम्मुख आईं। हिन्दू दर्शन में, या मोक्ष प्राप्त करने की इन छः पद्धतियो में, स्पष्टत ही उन धार्मिक मतो के लिए स्थान न था, जो सामाजिक दोषो के विरोध अथवा उनके सुधार के लिए विकसित हुए थे। यह धार्मिक विचारधारा, जिसने बाद के निर्गुणभक्ति आन्दोलन को बहुत कुछ अशदान दिया, अपने स्वरूप और बहुत सी बातो में उन अहिन्दू विश्वासो और धार्मिक विचारो से प्रभावित हुई जो उस समय प्रचलित थे और जो हिन्दू दर्शन की छ उक्त पद्धतियो के साथ-साथ विद्यमान थे।

उस ढीली-ढाली विचार-प्रणाली के, जो बाद में हिन्दू धर्म के नाम से लक्षित हुई, अतर और बाहर के धार्मिक विश्वास दो भागो में विभाजित थे—आस्तिक और नास्तिक। इनमें आस्तिक के अन्तर्गत वैदिक तथा अवैदिक दोनो मत थे और नास्तिक के अन्तर्गत बौद्ध, जैन, आजीविक तथा कई अन्य सम्प्रदाय थे जो प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य तक प्रमुख मानसिक शक्तियाँ बने रहे। वैदिक विचारधारा में ६ दर्शन थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन में वेदान्त ने सबसे अधिक लोकयता प्राप्त की, किन्तु इसमे भी विभिन्न विचारधाराएँ थी—यथा,

अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, सौर, इत्यादि जिन्होंने बीसियो सम्प्रदायो को जन्म दिया। इनमें हर एक के अपने-अपने भाष्य होते थे जो उपनिषदो, गीता अथवा ब्रह्मसूत्र पर आधारित होते थे और कई बार इन तीनो ही पर। शकराचार्य (? ७८८ से ८२० ई०), जिन्होंने वेदान्त के माहात्म्य को स्थापित किया, अन्य वैदिक सम्प्रदायो में से अधिकाश को अवैदिक मानते थे।

अवैदिक आस्तिको की भी, जिन्हे मनु ने नास्तिक कहा है, अनेक विचारधाराये थीं, यद्यपि इन के सम्बन्ध में बहुत ही थोडी सामग्री उपलब्ध है। इनमें से पचरात्र सम्प्रदाय ने अपने पीछे विशाल साहित्य छोडा है। इनके ग्रन्थो की सख्या १०८ मानी जाती है और उतनी ही सहिताएँ है, यद्यपि इनमें बहुत थोडी ही छपी है। इन सम्प्रदायो की कृतियो में अन्य विस्तृत साहित्य का उल्लेख है, किन्तु उसमें से बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। भागवतो की परम्परा को मानते हुए उन्होने वासुदेव-कृष्ण की विभिन्न पौराणिक कथाओ को सृष्टि-मूलक आधार दिया। इससे भक्तिमार्ग को बडी प्रेरणा मिली। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि दक्षिण भारत में जहाँ नागरिक अर्थव्यवस्था बराबर अक्षुण्ण चली आ रही थी, ७ वी से ११ वी शताब्दी तक भक्तगायक भक्ति से ओतप्रोत होकर एक मन्दिर से दूसरे में भजन गाते फिरते थे। इन भजनो पर सहिताओ की अपेक्षा रामायण, महाभारत तथा पुराणो का अधिक प्रभाव पडा, यद्यपि ये भक्त वैष्णव तथा शैव दोनो थे। इस आन्दोलन ने दक्षिण भारत को दस अलवार सन्त और उनका साहित्य प्रदान किया। उत्तर में भक्तजनो को 'पचरात्रसहिता', 'विष्णुपुराण' और 'श्रीभाष्य' ने अधिक प्रभावित किया और इस आन्दोलन का मुख्य केन्द्र मथुरा हो गया। उस काल में व्यापार का केन्द्र और व्यापारी श्रेणियो का निवास-स्थान गगा तट स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था, जहाँ गगा का जलमार्ग व्यापार के लिए अधिक सुगम था। मथुरा का आकर्षण इतना बढ गया था कि श्री रामानुजम (१०१७-११३७ ई०) सरीखे भक्त दक्षिण में अपना इष्ट मन्दिर छोड कर यही आकर रहने लगे थे। यह आन्दोलन सगुण भक्ति का सीधा पूर्वज था जिसका चरम विकास सूर और तुलसी में हुआ।

उपरोक्त वैदिक और अवैदिक धार्मिक मत यद्यपि एक विशेष अधिकार प्राप्त अल्पसख्यक वर्ग के लिए विकसित हुए थे, फिर भी वे जनसाधारण के विश्वासो के सतत आक्रमणो से अप्रभावित न रह सके। जब कभी ज्वालामुखी के समान जनशक्तियो का उत्थान होता और अवश्यभावी पतन के बाद पुन

वर्ग-सघर्ष तीव्रतर हो जाता, शोषकवर्गों के विश्वासो का भी आवर्त्तन होता और उनका रूप परिणत हो जाता। हिन्दूधर्म की अनगिनत रीतियाँ-विधियाँ और सास्कृतिक आकार-प्रकार उस वर्ग-सघर्ष के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये जो भारतीय समाज में निरन्तर घटता-बढता रहा है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के आधुनिक सभार जनसाधारण द्वारा सर्जित हुए यद्यपि उनका व्यवहार उनके विरुद्ध भी होता रहा।

विष्णु भगवान् के दस अवतारो की परम्परा का आविर्भाव यह निर्देशित करता है कि पूर्व मध्य-युग मे जनसाधारण के विश्वासो ने वैदिक धर्म में कितना उथल-पुथल और परिपर्तन कर दिया था। बाद में भी कृष्ण की परिसाधना द्वारा भारत के कई भागो और कई युगो के अनेक वीरो का समन्वय हुआ। तुच्छ ग्रामीण गोपालिक जीवन और उच्छृखल विलास के रूप में निर्गमित होकर, यह उस काल में विरोध-शक्ति बनकर विकसित हुआ था[1]। वह प्रथम सहस्राब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में बाल-भगवान—बालगोपाल—और राधिका की साधनाओ में भी प्रकट हुआ। जनसाधारण ने इन प्रतीको का विरोध के रूप में व्यवहार किया जैसे यूरोप में होनी के विरोध में बाल-ईसा और उसकी माता कुवारी-मेरी प्रतीक बने। "वह सम्पूर्ण रूप से विधिविधान के विरुद्ध विद्रोह था, धर्मश्रुतियो और उन पर आधारित स्मृतियो के प्रति घृणा थी, तथा मानव प्रकृति का अपने बदीगृह की दीवारो के प्रति अकथनीय क्रोध था"[2]। विशेष अधिकारप्राप्त अल्पसंख्यको द्वारा अपना लिये जाने पर भी, विरोध के इन स्वरूपो को जनता बार-बार नया रूप देती रही और इसके लिए उसने अपनी ग्राम्य परम्परा की दन्तकथाओ और दैनिक सस्कारो से सामग्री ली। जितना अधिक दमन किया जाता जनसाधारण के विश्वासो का उतनी ही वेगमय प्रचण्डता से प्रस्फोटन होता। यहाँ तक कि शासक वर्ग को इन विश्वासो और विरोधी विचारो से पुन समझौता करना पडता और

१ विष्णु दे : "उन दिनो स्वतन्त्रता के कम अवसर थे और मानसिक जागरण की कम सम्भावना थी। केवल दो मार्ग थे। लैंगिक हेत्वाभास तथा अशास्त्रीय देवी-देवताओ की उपासना। इनका प्रमाण सुदूर गावो में अभी भी मिलता है। सुगमता के लिए इस मनोवृत्ति को हमें मध्ययुगीन ससार के अन्तर्गत 'मानवतावाद' कहना चाहिए और फिर हम यह समझ सकेंगे कि जनता ने समझौते की अपेक्षा निष्कृति कैसे प्राप्त की।" ('अस', नेशनल बुक एजेन्सी, कलकत्ता १९४३)।

२ हेनरी एडम—जोसेफ नीडम रचित 'टाइम दि रिफ्रेशिंग रिवर' से उद्धृत।

इस प्रकार उनमें से अनेक को ग्रहण करके अपने धर्म, सस्कारो और रीतियो में फिर परिवर्तन करना पडता। "विद्रोह तथा समन्वय के इस क्रम द्वारा ही हिन्दू-पुराणशास्त्रो में इतनी अभूतपूर्व सकुलता और जटिलता उत्पन्न हुई है, जिसमे तीन करोड तथाकथित देवता और देवियाँ है। पहले अस्वीकृत, बाद मे सहन और अन्त में समन्वयित कर लिये जाने वाले ये देवी और देवता तथा साथ में असख्य प्राग-आर्य सस्कार और आचार-विचार इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किस प्रकार जनप्रिय कल्पना शास्त्रसम्मत विचारधारा पर निरन्तर विजयी होती रही है"[1]।

उपरोक्त विरोधी धार्मिक मत जो मुख्यत नास्तिक तथा अवैदिक था मुसलमानो के भारतागमन तक यहाँ पूरे तौर से फैल रहा था। मुसलमानो के आने के बाद बहुत सी अहिन्दू जातियो के लोगो को या तो हिन्दू समाज मे जहाँ कही स्थान मिला घुसना पडा या वे इस्लाम की ओर खिसकने लगे। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक भी कई ऐसी श्रेणियाँ और समुदाय थे जिनके मुसलमानी नाम थे किन्तु वे अपने पहले के विश्वासो और रीतियो को मानते चले आ रहे थे, और जैसा कि कबीर ने अपने बारे में कहा है, वे "न-हिन्दू न-मुसलमान" थे। मुसलमानो के हिन्दू-विरोधी होने के कारण कई अहिन्दू मत उन्हे उद्धारकर्त्ता मानने लगे थे जैसा कि रमाई-पण्डित के 'शून्य-पुराण' से विदित है और यह सभव है कि उनमे से कुछ ने मुसलमान नाम अपना लिये थे। सेन्सस रिपोर्ट में एक के बाद दूसरी दशाब्दी में मुसलमान योगी दर्ज किये गये है और बगाल व बिहार में, जहाँ ये मुसलमान योगी नही लिखे गए वहाँ इनकी जाति जोग लिखी गई है। यह घटना कबीर के समय तो बहुत प्रचलित रही होगी। अतएव इस बात के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नही है कि कबीर ने मुसलमानी नाम होते हुए भी अमुस्लिम रीतियो का प्रचार किया। आगे चलकर हम यह देखेगे कि इन विश्वासो की परम्परा भी अहिन्दू थी। बगाल मे बीसियो मुस्लिम कवियो ने उलटबासियाँ लिखी है जिनके लिए कबीर इतने प्रसिद्ध हैं। महापडित राहुल सास्कृत्यायन[2] ने बताया है कि यह परम्परा पिछली शताब्दियो के सिद्ध, नाथपन्थियो और सहजयानियो से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी।

इस काल में कई सम्प्रदाय और पन्थ अपनी अवैदिक या वैदिक-

---

१ जान अरविन : क्लास स्ट्रगल इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर—माडर्न क्वाटरली, न्यू सिरीज, भाग १ न० २, मार्च १९४६।

२ राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा।

विरोधी प्रकृति के कारण हिन्दूधर्म से बाहर माने जाते थे। यद्यपि इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ नास्तिक सम्प्रदाय वेदो को मानते थे, किन्तु समस्त अवैदिक सम्प्रदाय सामान्यत नास्तिक समझे जाते थे। मनु ने वेद की आलोचना करने वाले को नास्तिक कहा है। कुल्लूक भट्ट ने मनु पर अपनी टीका में उन सब को नास्तिक माना है जिनका परलोक मे विश्वास नही था। श्रीकृष्ण धूर्जटि मिश्र ने नास्तिको के ६ सम्प्रदाय माने हैं—(१) चार्वाक (२) माध्यमिक बौद्ध (३) योगाचार बौद्ध (४) सौत्रातिक बौद्ध (५) वैभाषिक बौद्ध और (६) दिगम्बर जैन[१]। इससे यह विदित होगा कि नास्तिक पद उन लोगो के लिए व्यवहार में आता था जो 'हिन्दूधर्म' से सम्बन्धित रीतियो और उपदेशो पर विश्वास नही रखते थे। इस काल के विस्तृत साहित्य के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ऐसे लोगो की सख्या बहुत अधिक थी। बौद्ध सम्प्रदाय स्थविरवाद का सम्पूर्ण साहित्य अब उपलब्ध हुआ है। वह आकार मे महाभारत का तिगुना है। इससे यह विदित होगा कि अहिन्दू सम्प्रदायो का किनता विशाल साहित्य रहा होगा, यद्यपि उसमे से बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय कापालिक, लाकुल, वाम, भैरव, आजीविक, वज्रयानि, सहजयानि इत्यादि की अपनी-अपनी शाखाएँ, उपशाखाएँ थी, जो यौगिक, तान्त्रिक, शैव, शाक्त और अन्य विश्वासो की व्याख्याओ पर बनी थी।

प्रथम सहस्राब्दी ई० के अन्त में हिन्दू समाज अत्यन्त दृढ और कठोर होने लगा क्योकि मुसलमानो के आने से समस्त भारतीय समाज को एक नवीन शक्ति का सामना करना पडा। बहुत से अवैदिक सम्प्रदाय वैदिक विश्वास प्रणाली में मिल जाने के लिए उन्मुख हुए। इसी प्रकार अनेक अहिन्दू सम्प्रदायो ने अपने विश्वासो मे सुधार का प्रयत्न कर हिन्दू समाज के निकट आना चाहा। ११ वी और १२ वी शताब्दी के बाद अहिन्दू सम्प्रदायो में हिन्दू समाज के साथ मिल जाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। अवैदिक विश्वासो में आस्था रखने वाले वैष्णवो और शैवो के लिए वैदिक वैष्णवो और शैवो में मिल जाना तो सरल ही था। उन तमाम अहिन्दू श्रेणियो और जातियो का जो इस्लाम में प्रवेश करने से हिचकिचा रही थी किन्तु जिन्हे हिन्दू समाज में कोई स्थान नही मिल सका था, नाथपन्थ आकर्षण-बिन्दु बन गया। 'योगसम्प्रदाय विष्कृति' में धवलगिरि से ९० मील पूर्व त्रिशूलगगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गियो और गोरखनाथ के एक सम्मेलन की चर्चा है। वाममार्गी गोरखनाथ

१. दे०—हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्मसाधना।

की सब शर्तें मान न सके और इसीसे उनके सम्प्रदाय में न लिये जा सके। गोरखबन्सी में (आधुनिक कलकत्ता के निकट) ऐसे ही एक सम्मेलन की चर्चा है जिसमें काली देवी के समस्त शाक्त उपासक उनके पथ में दीक्षित हो गए थे। कुछ सम्प्रदायो के ऐसे दृष्टान्त भी मिलते है जिन्होने अपने अवैदिक विश्वासो में परिवर्तन कर उसकी नवीन व्याख्या ऐसी की कि वह हिन्दूसमाज के अनुरूप हो गई। 'हठयोग प्रदीपिका' के एक श्लोक में गोमास खाने की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि 'गो' का अर्थ गाय न मानकर जिह्वा किया गया है तथा गोमासभक्षरण उसे उलटकर 'ब्रह्मरध्र' में ले जाने की एक यौगिक क्रिया बताई गई है।

जितने भी सप्रदाय नाथपन्थ में मिले वे सब प्राय अपने प्राचीन विश्वासो को ग्रहण किये रहते थे, किन्तु हिन्दूधर्म में निषिद्ध बहुत सी रीतियो को छोड देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी काल मे गो का माहात्म्य हिन्दूसमाज मे बढा और उसमे प्रवेश करने वाले सम्प्रदायो के लिए यह आवश्यक समझा गया।

बौद्धधर्म, मुसलमानो के आने के कुछ बाद भी, पूर्वीभारत में अपना स्थिर प्रभाव तथा स्वतत्र अस्तित्व बनाये रहा। कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बखतियार ने बिहार पर आक्रमरण के समय नालन्दा और उदन्तपुरी के बौद्ध-विहारो और ग्रथालयो को नष्ट कर दिया। इसी काल में कुछ आक्रमरणकारियो द्वारा सारनाथ भी नष्ट कर दिया गया। ऐसा विश्वास है कि गोरखनाथ भी प्रारम्भ में बौद्ध थे।[1] 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार जब श्री चैतन्य देव (मृत्यु १५३३ ई०) दक्षिरण भारत गए तब उनका अरकाट के बौद्ध-भिक्षु से शास्त्रार्थ हुआ था। सन् १४५० ई० में गया में बौद्ध-मन्दिर निर्मारण कराने वाले किसी चागलराज राजा का भी उल्लेख है। बौद्ध-सघो के नष्ट हो जाने के बाद भी निरजन, सिद्ध, धर्मपन्थी और वैसे ही कई बौद्धो से मिलते-जुलते सम्प्रदाय बहुत समय तक वर्त्तमान रहे।

इन सब सम्प्रदायो ने अपने साहित्य के लिए जनता की बोलचाल की भाषाओ या उन्ही के मिश्ररण का व्यवहार किया तथा छन्दो को भी ग्रामीरण जन-परम्परा से लिया। दोहा, चौपाई, पद और नाथपन्थियो की उलटबासी तथा उनके सीधे-साधे वस्तुविषय ने निर्गुरण-भक्ति आन्दोलन को मुख्य प्रेरणा दी। इन निर्गुरण सन्तो ने नाथपन्थियो की भाँति ही देवोपासना के स्थान पर सत्नाम द्वारा सतगुरु की प्राप्ति के लिए किसी गुरु विशेष मे आस्था की

१ देखिए, हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना।

परम्परा अपनाई। इस प्रकार अहिन्दू और हिन्दू विश्वासो के सश्लेषण द्वारा इस निर्गुण भक्ति आन्दोलन का मुख्य आध्यात्मिक परिग्रह प्रस्तुत हुआ।

उत्तरीभारत में मुसलमानो के आक्रमणो के कारण व्यापार को बहुत धक्का लगा था। वह अब धीरे-धीरे सँभल रहा था। महमूद गजनवी और तैमूर द्वारा सहार के बाद नगर फिर से पनपने लगे थे। आगे चल कर इन नगरो ने ही व्यापारिक अर्थव्यवस्था के विकास और उपजातियो और जातियो के मेल-जोल में प्रमुख भाग लेना था। कन्धार से कलकत्ता तक और हिमालय से कच्छ तक अलबेरूनी ने (११ वी शती ई०) केवल दो दर्जन नगरो का ही उल्लेख किया है[1]। एक सहस्राब्दी पूर्व उत्तर भारत नगरो और उद्योग-केन्द्रो से भरा हुआ था। मौर्यकाल में नगरो का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज लिखता है कि उनकी सख्या इतनी अधिक है कि ठीक-ठीक बताई नही जा सकती। इसके पूर्व सिकन्दर के आक्रमण के भूगोलविद् स्ट्राटो ने स्वीकार किया है कि झेलम और व्यास के बीच मे ५०० नगर थे। इसकी पुष्टि पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी हाती है।[2]

सामन्तवाद की वृद्धि से नगरो की सख्या और महत्त्व मे कमी आ गई थी किन्तु उन्हे मुख्य हानि उत्तर-पश्चिम की ओर के आक्रमणो द्वारा हुई। चीनी यात्री ह्वान्-साग जो हूणो के आक्रमणो के कुछ देर बाद भारत आये, पेशावर का इस प्रकार दुखद वृतान्त देते हे "राज्यवश का विनाश हो चुका है और उस राज्य को कापिष (प्रदेश) मे मिला लिया गया है। नगर और ग्राम निर्जन और परित्यक्त हे और देशभर मे बहुत थोडे निवासी नजर आते हे। राजधानी (पेशावर) के एक भाग में लगभग एक हजार परिवार शेष हे · दस लाख बौद्ध-विहारो का विध्वस हुआ है, उन पर झाड-झकाड उगे हुए है और सन्नाटा छाया हुआ है। अधिकाश स्तूप भी खण्डहर हो रहे हे"।[3] ११वी शताब्दी में महमूद के १७ आक्रमणो का उल्लेख करता हुआ अलबेरूनी लिखता है : "महमूद ने देश की समृद्धि को नितान्त नष्ट कर दिया और बहादुरी के कारनामे दिखाये जिनसे हिन्दू धूलिकणो की तरह चारो ओर बिखर गये और अतीत की दुखद कहानी-मात्र बनकर रह गये"।[4] दो शताब्दियो के बाद तैमूर भी

१ देखिए, अलबेरुनी—किताबुल हिन्द।

२ देखिए, वासुदेव शरण अग्रवाल—इन्डिया एज नोन टू पाणिनि।

३ ह्वान-साग—वाटर्स द्वारा अग्रेजी में अनूदित।

४ एल० ग्लोयोरी—"दी मैडिवियल पीरियड आव इन्डियन हिस्टरी" से उद्धृत।

इसी तरह दिल्ली तक आया और अपने पीछे मृतको के ढेर, जलते हुए नगर और गाँव छोड गया। केवल दिल्ली ही में उसने एक लाख मनुष्यो का वध किया तथा पाँच दिनो तक नगर में निरन्तर लूटमार मची रही। गुरु नानक ने अपनी 'बाबर बानी' में बताया है कि बाबर के आगमन के साथ कैसे स्त्रियाँ विधवा और मनुष्य आश्रयहीन हो गए थे, और वे स्वय उसकी सेना द्वारा बन्दी बना लिये गए थे। नगरो का बारम्बार विध्वस बहुत हानिकारक था। इससे शासन सगठन समाप्त हो जाता था, जिसके बिना सिंचाई की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती थी, क्योकि गर्म देशो में सिंचाई की व्यवस्था के लिए जिस आयोजन की आवश्यकता है वह शासन-सगठन द्वारा किये गए सार्वजनिक निर्माण कार्यो से ही हो सकता है। एक उच्च सामन्ती व्यवस्था, प्रचुर, उपजाऊ और अच्छी भूमि के आधार पर पनप सकती थी। उत्तरी भारत में कृषि-व्यवस्था बार बार परवर्तित हुई। यह इस काल मे दासो की अधिक सख्या तथा उनके सस्तेपन से भी प्रकट होता है। यूरोप की सामन्तशाही मे दास-प्रथा बिल्कुल मिट चुकी थी। फीरोज़ तुगलक के समय में एक दास का मूल्य आठ टक था जबकि एक बकरे का तीन टक था। वह राज्य के मसबदारो को वार्षिक कर के रूप में दासो के देने को प्रोत्साहित करता था और इसी के अनुसार उन्हे राजकोषसे कर-मुक्ति मिल जाती थी। अलाउद्दीन के समय में दिल्ली में दासो की सख्या ५०,००० थी जो फीरोज़ के समय तक दो लाख हो गई थी। इनमे १२००० कारीगर और शिल्पी थे जो अनेक प्रकार के सामान बनाने के लिए शाही कारखानो में काम किया करते थे।[1]

इस काल में उपयोगी विज्ञान ने बहुत कम प्रगति की। यूरोप की रसायन विद्या 'अलकेमी' के विपरीत भारतीय रसायन, जिसे साधारणतया सिद्ध-रसायन कहा जाता था, केवल यन्त्र-तन्त्र पर आधारित थी जैसा कि अलबेरूनी के वर्णन से विदित होता है।[2] भारत में इसका भी कही निर्देश नही है कि सामन्ती समाज उस उच्च स्तर पर जा रहा था जहाँ वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था उसकी कठोरता को कम करती है। इन परिस्थितियो मे केवल भवन निर्माण कला विशिष्ट प्रगति कर सकती थी। उस काल में भारत में ससार के कुछ सर्वोच्च राजगीर और कारीगर थे। अमीर खुसरो ने उस काल के दिल्ली के कारीगरो और सगतराशो के विषय में गर्वपूर्वक कहा है कि वे मुस्लिम ससार में सर्वश्रेष्ठ थे। तैमूर अपने साथ सहस्रो कारीगर और शिल्पी समरकन्द ले गया था। किन्तु स्थापत्य कला का यह विकास एक साधन-मात्र भी और

१ मोहम्मद अशरफ़ लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑव दि पीपुल आव हिन्दुस्तान।

भवन-निर्माण में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती थी उनका ही समाधान ढूँढ लेने से यह हुआ था। उससे वैज्ञानिक जानकारी में कोई प्रगति नही हुई—मेहराबदार छतें आदि निर्माण करने के वैज्ञानिक नियम बहुत बाद में खोजे गये थे।

भारतीय भाषाशास्त्रियो को यह भी विचार करना चाहिए कि भारत में जो यूरोप से भिन्न 'एशियाई सामन्ती समाज' था, वह क्या पश्चिमी यूरोप के समान एक प्रौढ मुद्रा-माल अर्थव्यवस्था को उत्पन्न करने की क्षमता रखता था और क्या ऐसा समाज पूंजीवादी वर्ग का सृजनहार हो सकता था। ये व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था के प्रौद्योगिक पहलू और उत्पादन की प्रविधियो तथा व्यापार में उन्नति थी जिन्होने मध्ययुगीन अवर्द्धमान विज्ञान के स्थान पर प्रगतिशील प्रयोगात्मक विज्ञान को जन्म दिया। एशिया के अन्य स्थानो की तरह भारत में बहुत पहले से प्रारम्भ होने पर भी, प्रविधियो की प्रगति बिल्कुल रुक गई जिसके परिणामस्वरूप स्थिर प्रौद्योगिक स्तर की 'पूर्वी सभ्यता' की रचना हुई। चीन में तो यह प्रौद्योगिक स्तर बहुत ऊँचा था, किन्तु वहा भी आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान और पूँजीवादी वर्ग उत्पन्न नही हुआ[1]। जे० नीडम ने चीन पर लागू होने वाला एक कारण यह दिया है कि वहाँ शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त अधि-

१ जे० डी० बर्नाल "मध्ययुग की प्रौद्योगिक प्रगतियाँ उपज्ञाओ तथा आविष्कारो के विकास और विदोहन द्वारा संभव हुईं। इन सबने मिलकर यूरोपियनों को प्रकृति पर नियन्त्रण करने और उसे समझ सकने की शक्ति दी जो कि उन्हे शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त न थी। यह ध्यान रखने की बात है कि महत्वपूर्ण आविष्कार, जैसे घोडे का कवच, पतवार की फिरकिया, कुतबनुमा, दिग्घटी, कागज, बारूद, मुद्रण, इत्यादि यूरोप में विकसित नहीं हुए थे। ये सब पूर्व से, अन्ततः चीन से, आये प्रतीत होते हैं, यूरोप से केवल क्लाक और अलकोहल आये।

"जैसे जैसे हम चीन के वैज्ञानिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करते हैं हमें पता चलता है कि समस्त ससार के लिए चीन के प्रौद्योगिक विकास कितने अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। हमारे पास यह दिखाने के लिए पर्याप्त मसाला है कि पश्चिमी ईसाई सभ्यता का बडप्पन बाकी ससार के विषय में दाम्भिक अज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार के ऋण को सिद्ध करना सर्वदा कठिन होता है किन्तु तथ्य यह है कि पश्चिमी यूरोप में केवल दसवीं या बाद की शताब्दियो में जो उपज्ञाएँ प्रकट हुई उनका हमारे सवत् की प्रथम शताब्दियो में चीन में पूर्ण विवरण मिलता है।" (इतिहास में विज्ञान)

कारी-तन्त्र मण्डारिनो का उदय हुआ जिन्हे प्रौद्योगिक प्रविधियो के सुधार में कोई रुचि न थी और जो व्यापारी-निगमो को दबाकर रखना चाहते थे[1]। ये व्यापारी ही नवीन तिजारती मण्डिया और नये बाजार खोलकर प्रविधियो को आगे बढा सकते थे। भारत में ब्राह्मणवर्ग को तो, जो बिलकुल परिबद्ध और परम्परागत था, चीन के मण्डारिन वर्ग की सी भी सुविधा न थी, जो अपने मे एक न्याय-सगत प्रतियोगिता द्वारा समस्त वर्गो और श्रेणियो के योग्यतम बालको की भरती करता था। वैश्यो को शूद्रो की स्थिति पर गिरा देने के बाद, जिसका प्रमाण गीता में मिलता है, भारत मे ब्राह्मणो और वैश्यो के सघर्ष ने वर्ग-सघर्ष का रूप ले लिया। वैश्यो ने साधारणतया बौद्ध-जैन इत्यादि ब्राह्मणेतर धर्मों के प्रति आस्था प्रकट की और सस्कृत के विरुद्ध अपनी भाषाओ, प्राकृतो और अपभ्र शो, को आगे बढाया। जब ब्राह्मणो और वैश्यो तथा उनके सहायक शूद्रो का वर्ग-सघर्ष तीव्र हो गया तब वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था—ब्राह्मण का पौरोहित्य कर्म, क्षत्रिय का राजकर्म, वैश्य का वणिक्कर्म और शूद्र का दासकर्म—छिन्न-भिन्न हो गई। बार-बार ब्राह्मण अथवा वैश्य तथा उनके सहायक, राजा और शासक-सरदार के रूप मे आगे आते रहे। बगाल के ब्राह्मण राज्य के विरुद्ध हर्ष के विजयी युद्ध और बाद में गुर्जर-प्रतिहारो के साम्राज्य के उभरने से, वैश्य शीर्ष स्थान पर आ रहे थे, किन्तु मुसलमानो के आने से फिर ब्राह्मणो के अनुकूल पासा पलट गया। इसलिये मुगलकाल मे वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के विकास का परीक्षण, भारतीय सामन्ती समाज के इस लौह विधान और तत्कालीन भारत में विद्यमान सामाजिक-आर्थिक स्थितियो को दृष्टि में रखते हुए करना होगा।

भक्ति आन्दोलन उत्तरी भारत में उस समय उठा जब मुद्रा पर आधारित व्यापार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और अर्थव्यवस्था पूर्णतया ग्रामीण थी। यह अर्थव्यवस्था स्वावलबी ग्रामो पर आधारित होने के कारण, उत्पादन-कार्य मुख्यत स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए था। उद्योग और व्यापार, जो मुख्यत कृषि-उत्पादन पर आधारित थे, दस्तकारियो तक सीमित थे। नदियो के किनारो पर बसे व्यापार-केन्द्रो में जो छोटे-बडे पैमाने पर स्थानीय उद्योग-धन्धे चलाये जा रहे थे, वे पीढी-दर-पीढी प्राप्त किये हुए उच्चस्तरीय अभ्यास और दक्षता का परिणाम थे, किन्तु उनमें कोई विज्ञान या प्रौद्योगिक प्रगति न थी। पिछली बहुत सी शताब्दियो मे कृषि अथवा परिवहन के साधनो में कोई प्रगति नही हुई थी। साधारण ग्रामीण अपने उसी हजारो वर्ष पुराने

१ देखिए, जे० नीडम साईंस एण्ड सिविलिजेशन इन चाइना, भाग १।

हल से कृषि-कर्म करता और बैलगाडी चलाता आ रहा था। मुख्य सरिताओ पर पुलो का अभाव था और देश का अधिक भूभाग वनो से भरा पडा था। हाथियो, चीतो इत्यादि के झुण्ड के झुण्ड उत्तरी प्रदेशो के समस्त भूभाग में फिरते थे और इनके कारण उपजातियो और क्षुद्र राष्ट्रो में अलगाव बना हुआ था। कृषि उत्पादन के अपर्याप्त आधिक्य के कारण अतिरिक्त-मूल्य की कमी से ही नही, वरन् परिवहन के साधनो की मन्दगति के कारण भी व्यापार और मुद्रा-माल सम्बन्धो का विकास पिछडा रहा। अतएव इस काल में यह सम्भव नही हो सकता था कि उपजातियो और जातियो की भाषाएँ सश्लेषित होकर राष्ट्रीय भाषाएँ बनती। इसके लिए वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के विकास और विशाल क्षेत्रो में परस्पर ग्रथित बाजार की वृद्धि के साथ-साथ केन्द्रीय वाणिज्यिक राज्य के विकसित होने की आवश्यकता थी जो इसे प्रोत्साहन देता और सामन्ती पृथक्करण दूर करता। ऐसी स्थितियाँ मुगल काल में आगे आई जब भाषाओ तथा उपजातियो और जातियो के सम्मिश्रण ने एक नवीन रूप धारण किया। इसका सविस्तार परीक्षण आगे के अध्याय मे होगा।

इन तथ्यो से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि यह सामान्य धारणा कि आधुनिक हिन्दी तथा उत्तरी भारत की अन्य भाषाओ का जन्म इस सहस्राब्दी के प्रारम्भ में हुआ, वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नही है। डा० सु० कु० चटर्जी विशिष्ट रूप से कहते हैं कि हिन्दुस्तानी के उद्गम मे ११०० से १८०० ई० तक सात शताब्दिया लगी। डॉ० सम्पूर्णानन्द का भी यही मत है "कि आज की हिन्दी वही हिन्दी है जिसका उद्गम कई शताब्दियो में उन प्राकृतो से हुआ है जिन्होने उत्तरी भारत मे साहित्यिक रूप धारण किया"। इससे सहमत होते हुए सज्जाद जहीर भी हिन्दुस्तानी की खोज "११वी शताब्दी ई० मे भारत में तुर्को के आक्रमण के समय प्रचलित प्राकृत के अपभ्रंश रूप" से करते हैं।

आधुनिक हिन्दी मे अपभ्रंशो से मिलते-जुलते कुछ व्याकरण के नियमो से यह नही कहा जा सकता कि वह अपभ्रंश से निकली है। अपभ्रंशो के साहित्यिक भाषा बनने के पूर्व ही विभक्तियो आदि का पृथक्करण शुरू हो गया था, जैसा कि आधुनिक भाषाओ में है और अपभ्रंशो को कुछ ऐसे व्याकरण के रूपो को लेना पडा। बाद में 'भक्तिकाव्य' और 'रासो' ने भी उसकाल की बोलचाल की भाषाओ से व्याकरण के वे रूप लिये क्योकि ये जनता के अधिक सन्निकट थी। किन्तु ये बोलचाल की भाषाएँ अभी उपजातियो और जातियो की बोलियो के रूप में जीवित थी। उनका सश्लेषण हिन्दी के आदिकाल में नही, मध्यकाल में हुआ, जब ये मिलकर आज की प्रादेशिक भाषाएँ बनी।

अध्याय ६

हिन्दी के आदिकाल की कृत्रिम भाषाएँ

हिन्दी का इतिहास तीन कालो में विभक्त किया गया है—आदि-हिन्दी, मध्य-हिन्दी और आधुनिक-हिन्दी। इन तीनो कालो में तथा उनमें सम्मिलित नाना प्रकार की 'शैलियो' में गाढ सम्बन्ध ही नही खोजा जाता है, किन्तु ये सब एक ही भाषा मान ली जाती है। ११वी शताब्दी की सिद्धो की भाषा से लेकर अति सस्कृतमयी आधुनिक हिन्दी तक, उत्तर भारत के विभिन्न भागो में इन आठ-नौ शताब्दियो में जो कुछ लिखा गया है उसमें भाषा-सम्बन्धी समानता स्थापित किये बिना ही, उसे एक भाषा मान लिया गया है।

हिन्दी के तथाकथित आदिकाल की भाषा समरूप नही है। उसके कई भेद वर्तमान हैं जिनमें से कुछ-एक में बिलकुल परस्पर साहश्य नही है। ये दो रूपो या शैलियो में वर्गीकृत किये जाते है—वीरगाथाकाल की डिंगल और भक्ति-काल का सन्तकाव्य। ये शैलियाँ परस्पर भिन्न और असम्बन्धित है।

डिंगल शैली में उस काल के वीरगाथा-काव्यो की रचना हुई। इन्हे राजस्थान के भाटो ने लिखा, जो या तो किसी राजपूत राजा के आश्रित होते थे या इधर-उधर राजदरबारो में घूमते-फिरते थे, और परम्परागत प्राचीन योद्धाओ की स्तुति के साथ-साथ वे जिस राजदरबार में पहुँचते थे उसके गुणगान के लिए भी कुछ वर्णन कर देते थे। भाटो की इस जाति को चारण कहते है और इन चारणो द्वारा गाई गई वीर-गाथाओ को चारणकाव्य का नाम दिया गया है। इस काव्य को डिंगल भी कहा गया है, जिसका अर्थ निम्न कोटि का या विरूप पद्य है, क्योकि 'पिंगल' काव्य की भाँति इसमें छन्दशास्त्र के प्रतिष्ठित नियमो का पालन नही किया जाता था।

सामन्तकाल की वीर-गाथाओ के गायक सामान्यत दो प्रकार के थे। पहली श्रेणी के गायक जनता की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति करते थे। ये जनता के मनोरञ्जन के ही नही उनकी जानकारी के भी स्रोत थे। जनसाधारण

द्वारा आदृत, किन्तु अधिकारियो और धर्माचार्यों द्वारा तिरस्कृत, ये गायक जनता के साधारण जीवन के बहुमुखी अनुभवो के गीत गाते थे। वे जनता के श्रम और प्रेम सगीतो से कथावस्तु प्राप्त करते और कई पीढियो की सीखी हुई निपुणता से उन्हे ही काट-छाट कर सवारते रहते थे। जनता पर दमन करने वालो पर वे विदूषक की तरह हँसाते थे तथा कभी-कभी उनके विरुद्ध क्रोध भी उत्पन्न करते थे। उन्ही की सस्मृति की अक्षय परम्पराओ से सगृहीत कल्पनाओ, उपमाओ, उत्प्रेक्षाओ, छन्दो, बोलो, रागो, तालो को वे फिर से अत्यन्त प्राणमय कर देते थे। इस प्रकार वे चारण और उनका काव्य जनता के जीवन का अग बन गया था। ये डिगल या चारणकाव्य, जो प्राय उपजातियो की बोलचाल की भाषा में होते थे, हिन्दी के इतिहासज्ञो द्वारा त्याज्य और असकलित पडे रहे है। इनके कुछ तत्त्व राजस्थान के जन-साहित्य मे अब भी उपलब्ध हैं।

दूसरी श्रेणी के भाट या चारण इन वीरगाथाओ को अपने आश्रयदाता किसी सामन्ती सरदार अथवा राजदरबार की प्रशस्ति में कहते थे। उनकी भाषा साधारणतया मिली-जुली थी और आम बोलचाल की नहीं होती थी तथा प्राय एक राजदरबार से दूसरे तक बदलती रहती थी, क्योकि जब वे चारण एक राजदरबार से दूसरे मे जाते तो उन्ही वीरगाथाओ और चारण-काव्यो में शब्द तथा भाषा का हेरफेर करते जाते, वही काव्य नये सामन्त की स्तुति के काम आ जाता और उसके दरबार के जीवित या मृत वीरो के नामो का उसमें समावेश कर दिया जाता। ये भाट एक दरबार से दूसरे दरबार में आया-जाया करते थे और निकटवर्ती राजदरबारो में समझी जाने वाली मिश्रित भाषा का प्रयोग करते थे। जब किसी राजा या सामन्त का भाग्योदय होता तो उसके दरबार की भाषा उस मिश्रित भाषा मे प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती थी।

लगभग इसी काल में जर्मनी के राजदरबारो मे चान्सरी भाषा अस्तित्व में आई थी जो ऐसी ही मिली-जुली थी। किन्तु आधुनिक जर्मन भाषा का उद्गम इस भाषा से नही माना जाता। वह चान्सरी भाषा अलेमानिक, फ्राकिश, बवेरियन और स्वाबियन से, जो पूर्ववर्ती शताब्दियो के ख्याति-प्राप्त सामन्त राज्यो की भाषाएँ थी, भिन्न थी। वह चान्सरी भाषा व्याकरण के कम-से-कम नियमो को लेकर उन सामन्त राज्यो की भाषाओ में साधारणतया समझे जाने वाले शब्दो के मेल से बनी एक कृत्रिम भाषा थी। रासो काव्यो की डिंगल भाषा भी ऐसी ही मिली-जुली भाषा थी।

आदि-हिन्दी की इस शैली मे सबसे प्राचीन ग्रन्थ चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' है, जो हिन्दी भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ माना जाता है। हिन्दी

के समस्त विद्वानो और इतिहासज्ञो ने इसकी भाषा को कृत्रिम और मिश्रित माना है। इस सम्बन्ध में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन है · "रासो की जैसी भी भाषा है वह जीवित बोली नही है—वह किसी भी काल या प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा नही है। वह एक कृत्रिम साहित्यिक बोली है, जिसका स्वरूप कई शताब्दियो की और सहस्रो वर्गमील मे फैले भूखण्ड की कई बोलियो द्वारा निर्मित हुआ था। उसमे मुख्य तत्त्व पच्छिमी अपभ्रंश का है जिसमें पच्छिमी हिन्दी के साथ राजस्थानी बोलियो और प्रारम्भिक पजाबी की विशिष्टताएँ है। इस प्रकार की एक मिश्रित बोली राजस्थानी कविता में १२०० ई० के बाद क्रमशः प्रचलित हो चली थी और उसका पिंगला या पिंगल नाम था। किन्तु राजस्थानी चारणकाव्य की यह मिश्रित बोली केवल विशिष्टजनो द्वारा समझी जाती थी, जनसाधारण की वह भाषा न थी[1]।" इस कथन से इस विषय के सभी विद्वान् सहमत है। इस बात को भी सभी स्वीकार करते है कि बाद मे इनमे बहुत से क्षेपको का समावेश हो गया था। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही विश्वास है, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं "पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिई (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम। क्योकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नही है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बाते आ घुसी है कि ओझा जी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते है।"[2] यह आश्चर्य की बात है कि इन सब बातो के रहते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' की यह भाषा हिन्दी भाषा का प्राचीनतम उदाहरण ही नही उस समय की बोलचाल की भाषा भी मानी जाती है।

रासो में भाषा का मिश्रण बाद के क्षेपको द्वारा नही हुआ है और न ही इसकी सकरता ही कोई असाधारण बात है। नागरी प्रचारिणी सभा ने एक वैसा ही अन्य ग्रन्थ—परमाल रासो—प्रकाशित किया है, जो अपनी प्रकृति में 'पृथ्वीराज रासो' के सदृश है और इसकी भाषा भी वैसी ही मिश्रित है।[3]

सामन्ती समाज में खण्ड-खण्ड कृषि-समुदायो के ऊपर बडे भूस्वामी या जागीरदार और बहुधा उनके ऊपर राजा होते थे। इसी प्रकार कई छोटी-

१ सु० कु० चटर्जी—"इन्डोआर्यन एण्ड हिन्दी।"

२ हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका।

३ देखिये वही।

छोटी बोलचाल की भाषाओ के ऊपर सामन्ती शासक और पुरोहित-वर्ग एक कृत्रिम उच्च-भाषा को विकसित कर लेते थे, जो उनके वर्गहितो के सरक्षण के काम आती थी। विभिन्न ऐतिहासिक और भौतिक परिस्थितियो और विभिन्न कालो में ऐसी विभिन्न भाषाओ का जन्म हुआ था। डिंगल भी ऐसी ही भाषा थी और किसी प्रकार भी यह नही प्रमाणित किया जा सकता कि वह बोलचाल की भाषा होते हुए आज की हिन्दी का पूर्वरूप थी।

प्राचीन हिन्दी के जो रूप या शैलियाँ हिन्दवी, साधु भाषा, सन्तबानी, भक्ति-काव्य इत्यादि कहलाते थे, वे वास्तव में एक समरूप भाषा नही थे। उस समय उत्तरीभारत की कई विभिन्न भाषाओ के लिए इन नामो का व्यवहार किया जाता था। इन शैलियो की उत्पत्ति डिंगल से भिन्न थी, इनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और ये जनता की बोलियो के अधिक सन्निकट थी। भक्ति-साधना की यह भाषा व्यापार सम्बन्धी अर्थव्यवस्था के उस आदिकाल में अस्तित्व में आई जबकि मुद्रा-पण्य सम्बन्ध दृढ और प्रबल नही हुए थे और सामन्तशाही जनित पृथक्त्व अक्षुण्ण बना हुआ था। भारतवर्ष में वर्गों के ऊपर वर्णव्यवस्था की परत चढ जाने मे सामन्ती जीवन अधिक कठोर हो गया था। व्यापारी-वर्ग में जब तक स्थानीय या उपजातीय हितो के स्थान पर जातीय या राष्ट्रीय भावना जन्म नही ले लेती और जब तक वे एक उपभाषा क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में सुगमतापूर्वक आने-जाने नही लगते, तब तक भाषा का सम्मिलन और एक व्यापक प्रामाणिक या राष्ट्रीय भाषा का उदय सम्भव नही हो सकता।

भारतीय इतिहास के उस काल में एक से दूसरे स्थान में बडी सख्या में भ्रमण करने वाले व्यापारी नही साधु और तीर्थयात्री होते थे। एक तीर्थ-स्थान से दूसरे मे भ्रमण करते हुए ये साधु विचारो के आदान-प्रदान के लिए तथा अपने मत के प्रचार के लिए विभिन्न भाषाओ के कुछ सामान्य शब्दो एव पदों और सरल व्याकरण के नियमो को चुन लेते थे और उस भाषा-सामग्री को जिस भाषा-क्षेत्र में जाते थे उसी के अनुसार प्रयोग करते थे। विभिन्न भाषा-क्षेत्रो मे थोडी बहुत समझ में आने वाली इस कृत्रिम भाषा में उन्होने भजनो, दोहो इत्यादि की रचना की। कभी-कभी गुरु नानक की तरह उन्होने कई बोलियो में रचनाएँ की या ऐसी भाषा में जिसमें आसानी से समझ में आने वाले शब्दो और पदो का व्यवहार तो किया जाता था किन्तु व्याकरण के नियमो को यथासम्भव त्याग दिया जाता था। उस काल के अधिकाश सन्तो-साधुओ ने काव्यभाषा में अपनी बोली के औरों के समझ

में न आने वाले तत्त्वो को छोड दिया और दूसरो के परिचित तत्त्वो को ग्रहण किया। बहुधा उन्होने अपने भ्रमण के समय क्षेत्र की आवश्यकतानुसार अपने गीतो में परिवर्तन भी किया। कभी-कभी यह कार्य उक्त क्षेत्र में उनके शिष्यो द्वारा भी किया गया। इस दृष्टि से विचार करने पर श्री उदयनारायण तिवारी के इस अभियोग में अधिक तत्त्व नही मालूम होता कि अपने आदि-ग्रन्थ में सकलन करते समय सिक्ख गुरु ने कबीर के गीतो का पजाबी रूपान्तर कर दिया था।[1] यथार्थ में उस काल के किसी भी सन्तकवि के बारे में यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उसने अपनी रचना उसी भाषा मे की होगी जो इस समय हमें प्राप्त है।

अतएव इसमे आश्चर्य की कोई बात नही कि आदि-हिन्दी कई भेदो और शैलियो में वर्त्तमान थी तथा पजाब, बिहार और महाराष्ट्र तक के क्षेत्रो में फैली हुई थी। इसमें यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि इन सन्तो की रचनाओ पर उन क्षेत्रो की भाषाओ का भी उतना ही दावा है जितना हिन्दी का। सिक्खो के आदि-ग्रन्थ मे दर्जन से ऊपर ऐसे सन्तो के 'शब्द' दिये गए हैं और इनसे यह बात सिद्ध की जा सकती है कि आदि-हिन्दी के ये भेद कितने स्वतन्त्र और विशिष्ट है। उस काल में रचित कई 'भक्तमालाओ' से भी यह बात प्रमाणित की जा सकती है।

कबीर और नानक दो सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि है और उनकी भाषा, जैसी कि वह उपलब्ध है, खडी बोली के बहुत सन्निकट है। प्रसगवश कबीर ने अपनी मातृभाषा को पूरबी कहा है। इन भाषाओ की सम्भाषणेतर प्रकृति स्वीकार की जा चुकी है। कबीर की भाषा पर श्री रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है "कबीर की वाणी का सग्रह 'बीजक' के नाम से पुकारा जाता है। उसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी' (इनकी) भाषा मिली-जुली है। खडी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी) आदि कई बोलियो का मेल है। ब्रज-भाषा का पुट भी कही-कही मिलता है पर बहुत ही कम"[2]। गुरु नानक की भाषा के मिले जुले रूप की ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है।

केवल शब्द-व्युत्पत्ति विषयक प्रमाण बहुधा भ्रामक होते है और आदि-हिन्दी के कुछ व्याकरण रूपो के हमारी आधुनिक हिन्दी मे मिलने से

१ उदयनारायण तिवारी भोजपुरी पर आकाशवाणी द्वारा प्रसारित वार्ता; 'हिन्दी की प्रादेशिक भाषायें' में सग्रहीत—पब्लिकेशन डिवीजन, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली।

२ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास—इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

भारतीय भाषाविद् भ्रमपूर्वक यह विश्वास करने लगे है कि भक्तिकाव्य प्राचीन काल की भाषा की अन्तिम अवस्था की अपेक्षा नवीनकाल की हिन्दी भाषा का आरम्भिक रूप है। सामन्ती काल की साहित्यिक भाषा बहुत मे मृत और अर्धमृत रूपो को बनाये रखती है, यहाँ तक कि सूर और तुलसी की रचनाओ में ही नही रीतिकालीन कविता मे भी कुछ शब्द अपने अपभ्रंश रूप में मिलते हैं। भाषाओ की वृद्धि और उनमे परिवर्तन इतना धीरे-धीरे और इतने दीर्घ-काल में होता है कि आधुनिक भाषा से मिलते-जुलते व्याकरण और शब्दो के रूप आदि हिन्दी से कई शताब्दियो पूर्व वर्तमान रहे हो, यह सम्भव है। आदि-हिन्दी में इन रूपो के वर्तमान होने से यह प्रमाणित नही हो जाता कि एक विशाल क्षेत्र के लिए, जिसे आज हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्षेत्र कहा जाता है, सामान्य बोलचाल की भाषा का निर्माण होने लगा था। सन्त बानी में इन तत्त्वो की उपस्थिति की वजह केवल यह है कि सम्भाषणेतर भाषाओ को व्याकरण के रूपो को बोलचाल की भाषा से लेना पडता है, क्योकि उनकी अपनी स्वतन्त्र व्याकरण-पद्धति नही होती।

निर्गुण सन्तो की भाषा में खडी बोली के तत्त्वो की उपस्थिति तभी समझी जा सकती है जब उसका पूर्ववर्ती काल से सम्बन्ध ठीक तरह समझ लिया जाय। निर्गुण सन्त नाथपथ की पूर्वजपरम्परा के उत्तराधिकारी थे। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक उस क्षेत्र मे से थे जहाँ खडी बोली और पूर्वी पजाबी की बोलियाँ प्रचलित थी। नाथपथियो के मठो, अखाडो और स्थानो मे एक मिलीजुली कृत्रिम भाषा का व्यवहार होने लगा जिसमे मुख्य तत्त्व खडी बोली और पूर्वी पजाबी के थे। यह इन सन्तो और उनके चेलो द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय और वादविवाद के लिए किया जाता था। ज्यो-ज्यो ये अखाडे और स्थान खडी बोली तथा समीपवर्ती क्षेत्रो से भारत के अन्य भागो में फैलते गये, इस भाषा मे भी क्षेत्र के अनुसार परिवर्तन होता गया, किन्तु खडी बोली के तत्त्वो की मुख्यत प्रधानता बनी रही और उसी के व्याकरण के बुनियादी नियम स्वीकार किये गए।

मध्यकाल में समस्त विचारो और सघर्षों की अभिव्यक्ति धर्म के द्वारा होती थी। चूँकि समस्त सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो को धार्मिक ढाँचे में प्रकट होना पडता था, जनता भी अपने स्वार्थो को धार्मिक आवरण में प्रस्तुत करती थी। अतएव धर्म-सस्कार केवल दमन के लिए ही नही, विद्रोह और सत्ता-विरोध के लिए भी व्यवहृत होते थे। हम पहले देख चुके है कि कुछ धार्मिक रूपो का, दमन के विरोध में तथा उसका समर्थन करने वाले

समस्त धार्मिक विचारो के विरोध में, व्यवहार हुआ था। इनका पूर्व मध्यकाल मे प्रमुख रूप त्याग और सन्यास था। भारतवर्ष में योगसाधना, जिसके राजयोग से हठयोग तक अनेक रूप थे, वैदिक पद्धति का उतना ही अग थी जितना कि वेद-विरोधी अहिन्दू सम्प्रदायो की। एक में वह सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करता था तथा दूसरे में अन्याय के प्रति विरोध। साधारण जनता ने अपने सीधे-सादे ढग पर उपरोक्त प्रणाली का विकास किया। कभी-कभी इन योगियो और हठयोगियो की साधना, विरोध के तीव्र तत्त्वो को ग्रहण कर लेती और वाममार्गी और तान्त्रिक सरीखे अराजकतावादी सम्प्रदायो के उपदेश इस सीमा तक पहुँच जाते कि "जो कुछ ब्राह्मण के लिए धर्म है हमारे लिए अधर्म है और उनका अधर्म हमारे लिए धर्म है"। इन सहजयानियो, वज्रयानियो, मार्मियो, कापालिको, चार्वाको, अघोरियो इत्यादि के विरोध का रूप निर्गुण सन्तो ने उत्तराधिकार मे प्राप्त किया। उनके निर्गुण की कल्पना प्रथम सहस्राब्दी के कापालिको आदि के निर्गुण शिव में खोजी जा सकती है। सन्तबानी में वे ही सिद्धो और नाथो की राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ मिलती है। सद्गुरु और सत्नाम के शब्द सहजयानियो, वज्रयानियो, तान्त्रिको आदि में समानभाव से मिलते है। यह परम्परा कैसी विरूढ और अविभाज्य रूप से चली आई, यह इससे प्रकट होता है कि कबीर की उलटबासियाँ नाथपन्थी योगियो, सहजयानियो और वज्रयानियो की वैसी रचनाओ से केवल स्वरूप मे ही नही, सन्दर्भ में भी मिलती है। नाथपन्थियो और सहजयानियो ने इन्हे अर्ध-सहस्राब्दी पूर्व के विभाषक तथा अन्य बौद्ध सम्प्रदायो से लिया था। ये यूरोप के घृणित गीतकारो और 'नामहीन आवारो' के समान थे, वे जिस 'ट्रोबरक्लस' नाम की भाषा का व्यवहार करते थे उसका अर्थ भी अस्पष्ट रचना या विभाषा है।

निर्गुण सन्तो की मिली-जुली भाषा का सादृश्य यूरोप तथा भारत के अन्य भागो में भी मिलता है। उस काल में यूरोप के 'परिभ्रमणकारी विद्वानो' के गीतो का उल्लेख करते हुए श्रीमती हेलन वेन्डल[1] कहती है कि "उनके ठीक अध्ययन के लिए अपने सक्रान्ति काल में पाँच स्थानीय भाषाओ का ज्ञान आवश्यक है, यथा, प्रोवेन्स, मध्य-जर्मन, इटालियन, प्राचीन फ्रेंच, एग्लो-नार्मन तथा मध्य-अँग्रेजी।" उन्होने यह भी लिखा है कि इनमें सुन्दरतम गीतो की रचना तीन भाषाओ मे एक साथ सर्वोत्कृष्ट रूप मे हो रही थी। भारत में कबीर तथा कुछ और भक्त कवियो की रचनाओ के साथ भी ऐसा ही हुआ। भारत के अन्य भागो मे

१ हेलन वेन्डल. वान्डरिग स्कॉलरस—पेंगुइन बुक्स, लन्दन।

भी ऐसी ही मिश्रित भाषाएँ प्रचलित थी। बिहार और बगाल के सतकवियो में 'पद' नामक अपभाषा प्रचलित थी। सहजयानी अपनी भाषा को सन्ध्या भाषा कहते थे और जिन्होंने इस भाषा का विस्तृत अध्ययन किया है उन्होने यह कहा है कि इसका नाम इसके मिले-जुले स्वरूप का द्योतक है और यह आधी समझी जाती थी और आधी अटकल से जानी जाती थी।

सिद्धो की अनेक उलटबासियाँ समय, स्थान और वैयक्तिक स्वभाव के अनुसार बहुत थोडे से परिवर्तन के साथ भक्त कवियो के नाम से मिलती है। सन्तो के चेलो द्वारा मौखिक परिवर्तन के कारण भाषा-इतिहास सम्बन्धी कोई धारणा स्थिर करने के लिए, यह भाषा अत्यन्त अविश्वसनीय है। उनके बहुत से चेलो ने अपने नाम से न लिखकर गुरु के नाम से लिखा था। डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इगित किया है कि कबीर तथा अन्य भक्त कवियो ने अपनी साहित्यिक और छन्दरचना की परम्परा ही नाथ-पथियो या सहजयानियो से नही ली किन्तु उनके छन्द और दोहे शब्दश ग्रहण किये। वही पद कभी कबीर-रचित कहा जायगा और कभी गोरखनाथ, दादू अथवा रैदास रचित।[१]

यह उलझन उस समय और बढ जाती है जब १२ से १६वी शताब्दी तक के समस्त निर्गुण और सगुण कवियो को हिन्दी के आदि और मध्य काल के भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत रखा जाता है। उनकी रचनाओ में कोई समान व्याकरण-नियम नही हैं तथा अनेक विषमताएँ है जो कि इन पाँच शताब्दियो में सघर्षरत विभिन्न वर्गो के भाग्य-परिवर्तन में भी प्रतिबिम्बित होती हैं। सामन्तीकाल में धर्म के तीन स्वरूपो का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथम, यौगिक वैराग्य एव सन्यास की भावना तथा सामाजिक दुर्गुणो से घृणा अथवा उनसे पृथक् या दूर रहना। दूसरा, उन दुर्गुणो को स्वीकार करना किन्तु भक्ति द्वारा उनसे उदासीन रहना और पलायन करना। तीसरा, कुछ सामाजिक दुर्गुणो के विरुद्ध विरोध करना या उनके सुधार के लिए आन्दोलन करना। धार्मिक विश्वासो के उक्त द्वितीय रूप का प्रतिनिधित्व पचरात्र, भागवत, इत्यादि सम्प्रदायो ने किया था तथा इनके सर्वोच्च प्रतिनिधि १६वी शताब्दी में कृष्ण-भक्त सूरदास हुए। धर्म का तीसरा स्वरूप अवैदिक तथा अहिन्दू विश्वासो में मुख्यत विद्यमान रहा और उसे सिद्धो-नाथपथियो के बाद कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तो ने आगे बढाया। कबीर के बाद धर्म के एक अन्य रूप को जन-प्रियता मिली। यह चतुर्थ रूप कुछ सामाजिक दुर्गुणो को ग्रहण करता था, कुछ की निन्दा करता था और एक साथ उनको स्वीकार और अस्वीकार

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका', तथा 'नाथ सम्प्रदाय'।

करता हुआ उन्हे ऐसा कुत्सित आधार मानता था जिसपर, दैनिक जीवन व्यतीत करते और सासारिक कर्त्तव्यो का पालन करते हुए, आध्यात्मिक जीवन का निर्माण हो सकता है। इसके सर्वोच्च प्रतिनिधि तुलसी थे। इससे प्रतीत होगा कि सगुण कवियो तक मे भी दो विचारधाराएँ थी। इन भेदो को ग्रहण किये बिना, उनकी भाषा की प्रकृति तथा उनके उत्तरी भारत में आधुनिक भाषाओ के उद्गमन में अशदान का समझना असम्भव है।

अध्याय ७

हिन्दी के मध्यकाल की प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी की तथाकथित दूसरी अवस्था जिसे 'मध्य-हिन्दी' का नाम दिया जाता है १६वी से १८वी शताब्दी तक प्रचलित मानी जाती है और यह काल उसके साहित्य का सुवर्णकाल है। हिन्दी के आदि-काल की कई विभिन्न मिली-जुली भाषाओ में खडी बोली के तत्त्व खोजे जा सकते है, किन्तु हिन्दी के मध्य-काल में ऐसा नही है। उसमें कई भाषाओ का साहित्य सम्मिलित है, जिसमे किसी प्रकार का भाषा सम्बन्धी ऐक्य नही। यह साहित्य मुख्यत रीतिकाल (ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी), कृष्णभक्ति धारा (ब्रजभाषा और राजस्थानी) और रामभक्ति धारा (अवधी और भोजपुरी) में है। ये भाषाएँ—ब्रज, अवधी राजस्थानी इत्यादि—आजकल हिन्दी की बोलियाँ मानी जाती है। प्रामाणिक या राष्ट्रीय भाषा एक जाति या उपजाति की भाषा की व्याकरण-पद्धति के आधार पर उठी और अन्य भाषाएँ, जिनके बोलने वालो से 'राष्ट्र' बना, उसी में एकाकार हो गईं या मिल जुल गईं। उसकी व्याकरण-पद्धति और शब्दो का आधार-समूह निरन्तर सशक्त, समृद्ध और विस्तृत होता गया और इस प्रकार कई बोलियो और छोटी भाषाओ के क्षेत्रो मे एक प्रामाणिक भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी के विषय में यह कहा जाता है कि आदि-हिन्दी काल मे प्राप्त किया हुआ खडी बोली का व्याकरण का ढाँचा, ब्रजभाषा और अवधी इत्यादि के लिए मध्य-हिन्दी काल में छोड दिया गया। राष्ट्रीय भाषा के लिए एक व्याकरण के ढाँचे को लेना और बाद मे उसे सशक्त करने के स्थान पर कुछ शताब्दियो के लिए त्याग देना भाषा के इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। हिन्दी-भाषा के इतिहासज्ञो ने इसका कोई समाधान नही किया। इस काल में अवधी, ब्रजभाषा तथा अन्य भाषाओ का फलना-फूलना यह इगित करता है कि पूर्ववर्ती काल में जब ऐसा समझा जाता था कि खडी बोली हिन्दी का इन क्षेत्रो पर आधिपत्य है, तब भी इतने विशाल क्षेत्र पर किसी बोल-चाल की भाषा का प्रारम्भ नही हुआ था। तुलसीदास ने अपनी भाषा को

'भाखा' कहा है और इससे उनका तात्पर्य अवधी से है । यह वह काल था जब ये वर्त्तमान बोलचाल की भाषाएँ जिनका क्षेत्र ब्रजभूमि, अवध, मिथिला, मगध, राजपूताना इत्यादि है, उपजातियो, सामन्ती राज्यो और जातियो की बोलियो के मिलने-जुलने से जन्म ले रही थी ।

उत्तरी, मध्य और पच्छिमी भारत के विशाल भू-भाग में—जिसे अब हिन्दी क्षेत्र कहा जाता है—आम तौर से बोली जाने वाली समस्त उपभाषाएँ तथा बोलियाँ एक ही बोलचाल की भाषा के रूप में क्यो विकसित न हो सकी और प्रादेशिक भाषाओ के सीमित क्षेत्रो ही मे क्यो पनप सकी, इसे अच्छी तरह ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशो में राष्ट्रभाषा के उद्गम के कारणो की विवेचना कर ली जाय । उत्तरी भारत में उस समय वर्त्तमान भौतिक और आध्यात्मिक अवस्था की भी जाँच करनी होगी, ताकि यह निश्चय किया जा सके कि उसने किस प्रकार और किस परिमाण मे भारत में भाषाओ के उद्भव और विकास पर अपना प्रभाव डाला ।

पिछले अध्यायो मे देखा जा चुका है कि वर्त्तमान भूभागो मे गणो, कबीलो और जातियो के आ कर बसने के समय से अब तक, निर्विवाद रूप से, बोलचाल की उपजातीय भाषाओ की परम्परा बराबर चली आ रही है । किन्तु जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ अपरिवर्तित नही रही । उनकी वृद्धि और समृद्धि और उनका सरलीकरण समाज के भौतिक उपकरणो के, परिणाम में नही तो स्वरूप में, समृद्ध होने के अनुसार होता गया । परन्तु यह भौतिक स्थिति ऐसी नही थी जो उन सब में सामान्य ऐक्य की रुचि का प्रदर्शन करती । इस देश में जिस प्रकार का सामन्तवाद था उससे समाज का गतिहीन होना स्वाभाविक था । किन्तु इसका यह अर्थ नही कि सामाजिक जीवन में कोई उथल-पुथल नही हुई अथवा उत्पादन के साधन नितान्त अपरिवर्तनशील रहे । जब कभी नवीन प्रविधियो ने सामन्तायत्त कृषि के निम्न उत्पादन में वृद्धि की और विभिन्न भाषा-क्षेत्रो में व्यापार को प्रोत्साहन दिया, तभी उपजातियाँ और उनकी भाषाएँ सन्निकट आने लगी, किन्तु उन प्रवृत्तियो मे विदेशी आक्रमणो, आप्रवासन और सामन्तो के गृहकलह से बाधा पडी और वे परावर्तित होती रही । जब कभी उदपादी साधनों और उपकरणो की कार्यक्षमता मे कमी आती तो भाषा भी उसी क्रम से पतनोन्मुख हो जाती । भारतीय सामन्तवाद के जन्मजात दुर्गुणो के कारण नवीन यन्त्रों और उपकरणो का आविष्कार धीमा रहा किन्तु प्राचीन यन्त्रो को श्रेष्ठतर बनाने मे बडा चातुर्य दिखाया गया और इस प्रकार भारतीय समाज धीरे-धीरे उच्चस्तर की ओर अग्रसर होता रहा और

आक्रमणो की पहुँच के बाहर के क्षेत्रो में यह प्रगति थोडी तीव्र रही। यद्यपि उस सामन्ती समाज का आन्तरिक सघर्ष कभी भी इतना प्रचण्ड न हुआ कि उससे विभाजित सामन्ती राज्यो के पृथक्त्व में कमी आती फिर भी उन क्षेत्रो मे जहाँ भौगोलिक और ऐतिहासिक एकता थी और जहाँ मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक सादृश्य विद्यमान था, वहाँ उपजातियो और गण-गोत्रो का जातियो और क्षुद्र राष्ट्रो के रूप में सश्लेषण होता रहा। इन आन्तरिक सयोजनीय शक्तियो का प्रभाव उन सामन्ती राज्यो से विदित होता है जो ९वी से १२वी शताब्दी तक उत्तरी भारत मे विकसित हुए। जेजकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के कडेले, गोरखपुर (केहल) छोटा नागपुर (देहल) और छत्तीसगढ (तुम्मन) के कलचुरि राज्य, पूर्वी राजपूताना के कछवाहे, मालवा के परमार, अह्लिल पाटल (काठियावाड) के चालुक्य, उत्तर-पच्छिम राजपूताने के चौहान, दक्षिणी राजपूताने के गुहिल, हरियाना के तोमर, पूर्वी अवध के गहरवार, दक्षिणी बिहार के पाल, दक्षिण-पच्छिम बगाल के सेन और ऐसे ही अन्य राज्य जो इस काल में उदय[1] हुए इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि महाभारत, पुराणो और बौद्ध ग्रन्थो में तथा पाणिनि और कालिदास द्वारा उल्लिखित बहुत-सी प्राचीन उपजातियाँ और गण-गोत्र आपस में मिल कर नवोदित जातियो और क्षुद्र राष्ट्रो का रूप धारण कर रहे थे।[2]

भाषाओ के विकास की अगली अवस्था, जिसमें जातियो की भाषाएँ मिलजुल और एक होकर आधुनिक राष्ट्रीय भाषाएँ बनती हैं, तब आती है जब छोटे-छोटे स्थानीय हाट मिलकर, अनेक जातीय क्षेत्रो मे फैला हुआ एक राष्ट्रीय बाजार बन जाते हैं। यह तभी हो सकता है जब जातियो के पारस्परिक व्यापार में इतनी वृद्धि हो जाती है कि व्यापारी श्रेणियाँ स्थानीय या जातीय दृष्टिकोण छोडकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने लगती हैं और सामन्ती

१ दे०—एच० सी० रे दि डायनैस्टिक हिस्ट्री ऑव नर्दन इण्डिया, भाग १ और २।

२ 'नोट्स आन मेडिवियल मराठी लिटरेचर' में एस०ए०डागे लिखते हैं ."स्थायी जातियो के तत्त्वो का जन्म ६०० ई० पू० और २०० ई० पू० के मध्य में खोजना चाहिये" (इण्डियन लिटरेचर नं० २)। किन्तु उस काल का उल्लेख करते हुए रिह्.स डेविड्स कहते हैं : "देश अत्यन्त विशाल था। उसकी विस्तृत सीमा की अपेक्षा उसमें उपजातियाँ और गोत्र बहुत कम थे जो एक-दूसरे से चौड़ी सरिताओ और गहन वनो द्वारा अलग हो रहे थे। अतएव (उनको) स्वतन्त्र वृद्धि का पर्याप्त अवसर था।" (बुद्धिस्ट इण्डिया)

पृथक्करण को तथा सामन्ती जीवन की कठोरता को समाप्त कर देती है।

भारतवर्ष में मुगल-साम्राज्य-काल में व्यापारी श्रेणियो ने नवीन स्थायित्व और जीवन प्राप्त किया। लोदी बादशाहो ने सडको को सुरक्षित और उन्नत किया और शेरशाह ने मुद्राप्रणाली में सुधार किया। अकबर के समय तक व्यापार करने वाली जातियो ने जो महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की वह उसके दरबार में टोडरमल की पदवी से स्पष्ट है।

पहले मुस्लिम आक्रमणकारी केवल लूटपाट करने के लिए आये थे। उन्होने उत्पादी साधनो को बहुत क्षति पहुँचाई। उनके साथ लाये गये नवीन उपकरणो का लाभ तब प्रतीत हुआ जब भारत में मुस्लिम राज्य स्थिर रूप से स्थापित हो गया। गरम देशो में कृषि के लिए राज्य द्वारा व्यवस्थित सिंचाई के सार्वजनिक साधन आवश्यक होते है। उन की उपेक्षा के कारण कृषि को जो हानि हुई उसकी आंशिक पूर्ति तालाबो और कुओ से हुई, जो व्यक्तियो द्वारा धार्मिक कर्त्तव्य समझ कर बनाये गए। मजनीक[1] के यन्त्र से आक्रमणकारी मुसलमान दुर्गों के भीतर पत्थर आदि फेका करते थे, उसकी चरखी, कमानी और उत्तोलन-दण्ड ने सिंचाई और उद्योग के उपकरणो के सुधार में सहायता दी। रहट का प्रयोग शुरू हो गया। घोडे के आधुनिक कनपट्टे, कवच और नाल से भारत परिचित हो गया और परिवहन के लिए घोडे का व्यवहार बढता गया। सडको ने विभिन्न व्यापार-केन्द्रो को मिला दिया और कृषि अर्थ-व्यवस्था के सुचारु रूप से विकसित होने के कारण अतिरिक्त धन प्राप्त होने लगा, जो हस्तशिल्प, धन्धो और दस्तकारियो का आधार बना और उन उद्योगो का विकास हुआ जिनका आधार मुख्यत कृषि उत्पादन का उपयोग था। इस प्रकार बोलचाल की भाषाओ का युग युगान्तर का अलगाव शेरशाह और अकबर के समय से पूर्व ही कम होने लगा था।

अकबर का राज्य "व्यापारियो और जमीदारो का साम्राज्य" था। अकबर ने व्यापारिक क्रियाकलाप में सक्रिय रुचि ली। वी० ए० स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अकबर स्वय व्यापारी था और वाणिज्यिक लाभो को प्राप्त करने में अभिरुचि रखता था।[2] सूरी बादशाहो से प्राप्त राजस्व

१ प्रो० महमूद खाँ शेरवानी ने इस विषय पर पर्याप्त अनुसन्धान किया है, किन्तु वे भी मजनीक की बनावट के बारे में मुस्लिम इतिहास-लेखको की कृतियो मे कुछ पता नहीं लगा सके (दे० पृथ्वीराज रासो अंजुमन ए तरक्की उर्दू)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मजनीक बहुत-कुछ यूरोपीय कैटापुल्ट के समान था।

२. वी० ए० स्मिथ : 'अकबर दि ग्रेट मगल'

और प्रशासन-प्रणाली में सुधार किया गया। समस्त राज्य में एकसी मुद्रा-प्रणाली का प्रचलन किया गया और टकसाल पर राज्य-नियन्त्रण कर दिया गया। जागीरे देने की अपेक्षा अपने मनसबदारो को रोकड देने की नई प्रथा से सामन्ती सम्बन्धो को बडा धक्का पहुँचा।

शाहजहाँ ने नील और शोरे के व्यापार पर एकाधिकार कर रखा था। नूरजहाँ कसीदे के कपडे का व्यापार करती थी और उसके पिता, अन्य राजदरबारी तथा शाहजादे भी व्यापार में हिस्सा लेते थे। आगरे से इग्लैड को जो सूती कपडा निर्यात होता था वह सन् १६३८-३९ मे २८२३ थानो से १६४०-४१ में २३५५० थान हो गया। आगरा, जो पहले शोरा, इमारती पत्थर और लोहे का केन्द्र था, विकास करता-करता सूती व्यापार की बडी मण्डी भी बन गया। अकबर और जहाँगीर द्वारा इस नगर तथा पडोस के फतेहपुरी को राजधानी के रूप में विकसित किये जाने के कारण आगरे की जनसख्या बढकर १६४० में ६ लाख हो गई। उस समय सम्भवत यह ससार का सबसे बडा नगर था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस काल मे प्रामाणिक भाषाएँ छोटे पैमाने पर क्यो विकसित हुईं और सश्लेसण द्वारा उस समस्त प्रदेश के लिये जिसे अब हिन्दी-क्षेत्र कहा जाता है क्यो एक भाषा न बन सकी तथा पजाब, दकन और गुजरात जो इस क्षेत्र से व्यापार द्वारा ग्रथित थे, क्यो इसी क्षेत्र के अन्तर्गत नही आये। इग्लैण्ड तथा अन्य देशो से होने वाले सूती व्यापार के गुजरात से आगरा चले जाने पर भी वह गुजरात के पत्तनो द्वारा ही होता रहा। लाहोर घोडे के व्यापार का और प्रसिद्ध शाल-उद्योग का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। अब वह मध्य और पश्चिम एशिया के व्यापार-मार्ग पर था, जो इससे पहले मुलतान अथवा सियालकोट से होकर जाता था। इस प्रकार वह आगरे ही के समान विकसित होकर वैभवशाली और जनसकुल नगर बन गया था। जहाँगीर और नूरजहाँ ने अपने मकबरो के लिए इसी स्थान को चुना और यह शक्तिशाली मुगल शाहजादो का निवासस्थान बन गया। उस काल में इसके आगरा और दिल्ली के व्यापारिक केन्द्रो से घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

अकबर के समय भारत में व्यापारिक अर्थव्यवस्था का प्रौद्योगिक आधार यूरोप की अपेक्षा बहुत निम्न था। मुगलकाल में "यूरोपीय यात्रियो ने सडको की खराबी की ओर सकेत किया है जो उस काल के निम्न पश्चिमी (यूरोपीय) प्रमाप के अनुसार भी अत्यन्त कष्टदायक थी[1]।" नदियाँ चौडी और बिना पुलो के थी और मैदान घने जगलो से भरे हुए थे। इस बात का प्रमाण यह है कि

---

१ ए० एल० बाशम : दि वन्डर दैट वाज इण्डिया—लन्दन १९५४।

"मुगल सेनाओ को ओरछा मे बहुत ही घने जगल मिले जिन्हे साफ करने के लिए उन्हे विशेष कारवाई करनी पडी[१]"।

मुगल काल की नई समृद्धि भी बहुत देर तक नही चली और अभी पनपने ही पाई थी कि उसे धक्का पहुँचा और वह जहाँ की तहा रह गई। मनसबदार फिर जागीरदार हो गये। शाहजादो के पारस्परिक युद्ध और फिर से सिर उठाने वाली जातियो से युद्ध के साथ-ही साथ इन मनसबदारो की अधिकार-लिप्सा भी बढ गई। पिछले मुसलमान बादशाहो से पूर्व तथा उनके समय में भूमिराजस्व उत्पादन का छठा भाग था। अकबर के समय में यह तिहाई हो गया और बाद के मुगलो के समय में आधा। यह कृषि पर बडा भारी बोझ था। इसके अलावा उसे निरन्तर युद्ध और सेनाओ की आवाजाही से और भी हानि हुई। सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में और सतरहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में कारखाने समृद्धि के केन्द्र बन गये। किन्तु बाद में अत्याचारी अधिकारियो द्वारा प्रत्येक वस्तु सस्ती दर पर लेने और किसी वस्तु का मूल्य ठीक चुकता न करने के कारण, उनका ह्रास हो गया। स्थानीय फौजदार द्वारा जब्त किए जाने के डर से वाणिज्य में धन को लगाने की अपेक्षा व्यापारी उसे छिपाने के लिए बाध्य हो गये। मुख्य मार्गों के निरापद न रहने से विशाल पैमाने की वाणिज्यिक क्रियाशीलता बिल्कुल बन्द हो गई। बार बार दुर्भिक्ष पडने लगे और व्यापार पर उनका भीषण प्रभाव पडा। नील जो मुख्य निर्यात की वस्तुओ में से एक था, अप्राप्य हो गया। सूत का मूल्य चढ गया और सोने का गिर गया। ग्राम उद्योग बिल्कुल समाप्त-प्राय हो गये और बहुत सी बातो में भारत अकबर के समय को अर्थव्यवस्था की अपेक्षा निम्नस्तर पर पहुँच गया। बरनियर ने कला कौशल के पतन पर और देश की अराजकता की दशा पर विस्तारपूर्वक लिखा है। यह समस्त व्यापार और वाणिज्य के प्रतिकूल थी। इसकी ओर सकेत करते हुए प्रो० जदुनाथ सरकार ने लिखा है "इस प्रकार भारत में आर्थिक दरिद्रता आई—राष्ट्रीय 'भण्डार' ही में कमी नही हुई, किन्तु यान्त्रिक चातुर्य्य और सभ्यता के प्रमाप में शीघ्रगामी पतन हुआ—देश के विस्तृत भूभाग से कला-कौशल और सस्कृति लोप हो गई।"[२]

किसी विशाल पैमाने पर प्रामाणिक या टकसाली भाषाओ के प्रादुर्भाव के लिए वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था और मध्यवित्त श्रेणी के व्यापारी लोगो का पर्याप्त मात्रा में विकास अनिवार्य होता है। मुगलकालीन भारत में यह कितना

१ के० एम० पणिक्कर ज्याग्राफिकल फैक्टर्स इन इण्डियन हिस्ट्री।

२ जे० एन० सरकार हिस्ट्री आव औरगजेब।

कठिन था इसका उल्लेख कार्ल मार्क्स ने भी किया है। अपने लेख "ब्रिटिश रूल इन इण्डिया" में उन्होने लिखा है "भारतवर्ष के पिछले राजनीतिक पहलू कितने ही परिवर्तनशील क्यो न दिखाई पडे, उसकी सामाजिक स्थिति उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक अतीत प्राचीनकाल से अपरिवर्तनशील रही है।"

मुगलकाल का उल्लेख करते हुए रामचरितमानस की लम्बी भूमिका में, ए० बरन्निकोव ने तुलसीदास के समय को, "भारत की पाँच शताब्दियो की दरिद्रता में क्षणिक विराम" कहा है। मुगलकालीन आर्थिक दशा का जिक्र करते हुए श्री भवानी सेन कहते है

'(भारत में) १७वी शताब्दी में 'एशियाई निरकुशता' का अत्याचार एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि पर हो रहा था जो उसी युग की यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न थी। उदाहरण के लिए इगलैड उस समय मुद्रा अर्थव्यवस्था और उत्पादन के तीव्र विस्तार, व्यापारी वर्ग के स्वामित्व में पूँजी के आद्य-सकलन, और परिणामत नये पूँजीवादी वर्ग के विकास में आगे बढ रहा था। १६वी शताब्दी के पश्चात् यूरोप के महाद्वीप में, विशाल कृषक क्रान्तियो द्वारा आई हुई नवजागृति ने पुनर्जागरण-काल (रिनेसाँ) को नया बल दिया और सामाजिक सम्बन्धो में नवीन मूल्य प्रदान किया। इस प्रकार वहाँ औद्योगिक क्रान्ति और पूजीवाद के विकास के लिए मच तैयार हो रहा था और सामन्ती व्यवस्था का, उसी के गर्भ से उत्पन्न नवीन विरोधी शक्तियो के कारण, पतन हो रहा था। किन्तु भारत में, 'एशियाई पद्धति' के चौखटे के अन्दर सब विकास हो रहे थे। उद्योग और कृषि की एकता बनी रही (किसान और शिल्पी एक ही होता था), गाव एक प्रकार से आत्मनिर्भर इकाइयाँ थी और इस स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था को सरक्षित कर सामाजिक प्रगति पर अकुश लगाये हुए थे।

"मुद्रा-अर्थव्यवस्था की वृद्धि, माल के उत्पादन की सापेक्षिक प्रगति और कृषको पर सामन्ती निरकुशता के होते हुए भी सामाजिक आधार दृढ बना रहा, प्राचीन सम्बन्ध, जैसे वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, प्राचीन काल के उपजातीय सगठन इत्यादि, विलुप्त नही हुए, किन्तु अपरिवर्तनशील गाँव के हृदय में निरन्तर वास करते रहे। यूरोप के नये अत्याचारी साहसी व्यापारी के विपरीत भारतीय अत्याचारी धन का नही, भूमि सम्पत्ति का इच्छुक था। हजारो वर्ष की सामाजिक व्यवस्था में मुसलमानो का शासन कोई मूल परिवर्तन न कर सका[1]।"

---

१ भवानी सेन, "इन्डियन लैण्ड सिस्टम एण्ड लैण्ड रिफार्म"—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

उक्त विचारो से प्रतीत होगा कि ऐसी भौतिक परिस्थितियो का अभाव था जिनसे हिन्दी क्षेत्र के लिए बडे पैमाने पर एक प्रामाणिक भाषा अकुरित हो सकती। इन परिस्थितियो में बोलचाल की भाषाएँ बहुत छोटे पैमाने पर ही सश्लिष्ट हो सकती थी।

बहुत सी प्रौद्योगिक सफलताएँ, जिन्होने पश्चिमी यूरोपीय सामन्ती समाज के गर्भ से पूँजीवादी सम्बन्धो को जन्म दिया, भारत में बिलकुल नही हुई। वहाँ पुनर्जागरण-काल की ओर अग्रसर होने और उसके पश्चात् औद्योगिक क्राति की ओर उन्मुख होने के पूर्व, कई शताब्दियो तक निर्बाध वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ और प्रविधियो का स्तर निरन्तर ऊँचा होता रहा। इतना होते हुए भी पश्चिमी यूरोप के वे देश, जो पहले लैटिन द्वारा आच्छादित थे, क्षेत्रफल तथा जनसख्या मे उत्तरी भारत से बहुत कम होने पर भी, एक भाषा और एक राष्ट्रीयता का विकास न कर सके और दर्जनो भाषाओ और राष्ट्रो मे विकसित हुए।

यूरोप मे आर्थिक विकास तीन अवस्थाओ में हुआ। हस्तशिल्प या कृषि-व्यवसाय पर मुख्यत आश्रित छोटे व्यापारिक पदार्थो का उत्पादन, फिर पूँजीवादी कारखाने और तत्पश्चात् विशाल पैमाने पर फैक्टरियो द्वारा उत्पादन। भारत में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पहली अवस्था के आगे विकसित न हो सकी थी, और इसमें भी सरकारी कारखानो ने, जो अर्धदासो के श्रम से चलाये जाते थे, व्यापारिक निगमो के प्रभाव को बढने न दिया था। यह कहना गलत है कि मुगल काल में भारत में नागरिको का मध्यवर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर विकसित हो गया था। मुगल निरकुशता ने ग्रामो की आत्मनिर्भरता, वर्ण-व्यवस्था, निम्न वर्णों की वास्तविक दासता, इत्यादि उन प्राचीन सम्बन्धो को तो बिल्कुल छुआ ही न था जो भारतीय सामन्तशाही में जमकर ठोस हो गये थे।

एक और बडी भारी कमी यह थी कि मुगल निरकुशता वास्तव में राष्ट्रीय न थी। अकबर ने, जो मुगल शासको में सबसे अधिक भारतीय था, फारसी को राज भाषा के रूप मे आसीन किया[1]। यह घटना अर्थगर्भित है कि उसने पानीपत की विजय के बाद हेमू के कटे शीश को काबुल मे प्रदर्शन के लिए भिजवाया था। पश्चिमी यूरोप के राज्यो की तरह मुगल राज्य एक राष्ट्रीय-राज्य न था। यह बहुत-कुछ पूर्वी यूरोप के उसी काल के तुर्की साम्राज्य

१. के० एम० पणिक्कर "भारत के मुगल सम्राट फारसी सस्कृति के प्रतीक हो गये, वे नौरोज परम्परागत धूमधाम से मनाते थे। उन्होने कला में फारसी प्रविधियो को प्रोत्साहन दिया" (ज्योग्रेफिकल फेक्टर्स इन इडियन हिस्टरी)

की तरह बहु-जातीय राज्य था, और अधीन उपजातियो और जातियो के क्रूर दमन पर आधारित था। राष्ट्रीय भाषाओ पर इसके घातक प्रभाव की विवेचना करते हुए प्रो० डब्ल्यू० आर० लाकवुड कहते है, "बैजन्टियम का पतन १४५३ में हुआ, किन्तु अधिकाश ग्रीक इसके पूर्व ही ओटमान राजाधिराजो के सम्मुख झुकने को बाध्य हुए। इस प्रकार, जब आधुनिक परिभाषा के अनुसार इटली और फ्रास राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहे थे तब ग्रीस तुर्की की दासता में शक्तिहीन पडा था, तथा राजनीतिक दासता के कारण उसकी राष्ट्रीयता की प्रगति मे सख्त रुकावट आ गई थी"।[1]

एक और कारण, जिससे समस्त हिन्दी क्षेत्र के लिए एक सामान्य भाषा विकसित न हो सकी थी, यह था कि राष्ट्रीय भाषाओ और जातियो के उद्भव के लिए अन्य देशो में जिन प्रभावो ने योग दिया वे यहाँ, उस प्रयोजन के लिए पर्याप्त मात्रा में, क्रियाशील न हो सके। लन्दन, पैरिस तथा पच्छिमी यूरोप की अन्य राजधानियो ने निकटवर्ती क्षेत्रो की ही नही, दूर प्रदेशो की भी जनता को अपनी ओर खीचकर उसकी उपभाषाओ और बोलियो के एकीकरण में योग दिया। इस प्रकार इन नगरो मे देश के विभिन्न भागो से आ बसने वालो की बोलिया परस्पर आदान-प्रदान से मिलजुल कर एक हो गई। परिणामत इन महान नगरो की जनता ऐसी भाषा बोलने लगी, जो उस प्रदेश की भाषा से भिन्न थी जिसमे वह नगर स्थित था। ओटो जसपरसन ने १८९० की जन गणना से दिखाया है कि कोपेनहेगेन नगर[2] के अधिकाश निवासी कोपेनहेगेन मे या उसके निकट पैदा नही हुए थे। इन राजधानियो ने उस आवर्त्तनी का काम किया जिसमें ऐतिहासिक, भावात्मक और मनोवैज्ञानिक अनुरूपता के कारण एक सामान्य राष्ट्रीय जीवन की ओर उन्मुख हो रही जातियो और उपजातियो की भाषाएँ घुलमिल कर एक हो गई। अन्य सहायक प्रभाव थे—राजनीतिक एकता, सामान्य सैनिक सेवा, जनप्रिय धार्मिक तथा अन्य त्योहार और नाटक। सामान्यतया समझी जानेवाली रगमंच की जर्मन अपभाषा का अपना नाम था—"बुहन्यूड्श"। जर्मनी मे तथा कुछ अन्य देशो में, जहाँ वाणिज्यिक समृद्धि देरी से आई, धर्म ने अत्यन्त प्रभावशाली कार्य किया। लूथर (१४८३-१५४६ ई०) द्वारा व्यवहृत भाषा किसी प्रदेश की स्थानीय बोली न थी। वह मध्य और दक्षिणी जर्मनी के मुख्य राज्यो

१. देखिए—लैग्वेज एंड दि राइज ऑव दि नेशन्स—साइस एड सोसाइटी—सख्या १८ न० ३—१९५४।

२ ओटो जसपरसन, 'फोनेटिक'

के दरबार और शासन की भाषाओं पर आधारित थी और उसमें स्वाबियन, आस्ट्रियन और अन्य बोलियों के तत्त्व थे। धर्म सुधार और राजनीतिक विद्रोह के आन्दोलनों ने लूथर की इस बाइबिल को नवीन प्रोत्साहन दिया। मुद्रण की नवीन कला से सशक्त होकर वह देश के समस्त भागों में और समस्त वर्गों मे पहुँच गई। रूस में भी रूसी राजधानी को मास्को स्थानान्तरित करने से, रूसी भाषा और संस्कृति के समन्वय का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

मुगलकाल मे, उस समय भी जब वाणिज्य और व्यापार पूर्णतया विकसित हो चुका था। दिल्ली राजधानी न थी। इसमें कोई आश्चर्य नही कि अकबर और जहाँगीर के समय में सर्वाधिक व्यापक भारतीय भाषा खडी-बोली-हिन्दी नही थी किन्तु आगरा के आसपास की ब्रजभाषा [1] थी। अकबरकालीन दिल्ली की गणना मार्क्स[2] ने उस समय के ससार के सबसे बडे नगरो में की है। उसकी जनसख्या प्रत्येक शताब्दी के बाद कम होती गई, क्योंकि अकबर और शाहजहाँ के समय की अल्पकालीन वाणिज्यिक समृद्धि के निरन्तर ह्रास के कारण व्यापारियो की सख्या घटती जा रही थी। नादिरशाह के आक्रमण (१७३९) और गदर (१८५७) के कुप्रभावो से यह नगर फिर कभी न पनप सका, यहाँ तक कि द्वितीय विश्वमहायुद्ध के पूर्व १९३९ में यह एक छोटा-सा नगर था जिसकी जनसख्या तीन लाख थी, जो अधिकतर 'पुरानी दिल्ली' में रहती थी और जिसकी बोलचाल की भाषा आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट थी। वह विशुद्ध खडी बोली पर आधारित थी और उसमें किसी भी निकटवर्ती उपभाषा का योग नही था।

यह विश्वास भ्रामक है कि राजधानी की भाषा स्वय अन्य क्षेत्रो की भाषाओ को समाप्त कर देती है और इस तरह उनका स्थान लेकर राष्ट्रीय भाषा बन जाती है। यह किसी भी भाषाशास्त्रीय साक्ष्य से सिद्ध नही किया जा सकता। राजधानियो की आवर्त्तनी में जिस सामान्य भाषा का निर्माण होता है वह एक उपभाषा के स्कन्ध पर अन्य बोलियो के एकीकरण का परिणाम है जिससे किसी एक बोली की व्याकरणीय पद्धति और बुनियादी शब्द-भण्डार में अन्य बोलियो की शब्दावलियाँ मिल जाती हे। इस भाषा के उच्चतम रूप को बनाने के लिए छोटी भाषाएँ और बोलियाँ अपने भाग का अशदान देती है।

१ 'इण्डो-आर्यन् एण्ड हिन्दी' में सुनीति कुमार चटर्जी लिखते है कि अकबर ने ब्रजभाषा में पद्यरचना की, और 'इण्डोआर्य' भाषाओ में यदि कोई बादशाही बोली के नाम से पुकारी जा सकती है तो वह वास्तव में ब्रजभाषा थी।

२. कार्ल मार्क्स 'क्रानोलाजिकल नोट्स ओन दि हिस्ट्री आव इण्डिया।'

उत्तरी भारत में भाषाओ के मिलकर एकाकार होने के लिए दिल्ली एक घरिया का रूप धारण न कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस समस्त क्षेत्र के लिए सूरदास और तुलसीदास को अपने माध्यम के लिए कोई सामान्य बोलचाल की भाषा न मिल सकी। अतएव उन्हे उन भाषाओ में लिखना पडा जिनमें खडी बोली के व्याकरण के कोई भी तत्त्व नही थे। अतएव 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' समस्त उत्तरीभारत के लिए एक सामान्य भाषा विकसित करने का कार्य भी न कर सके जैसा जर्मनी में लूथर की बाइबिल ने किया।

एक विशिष्ट कारण, जिसने हिन्दी क्षेत्र में बसने वाली जातियो और उपजातियो की भाषाओ को एकाकार होने से रोका, यह हो सकता है कि इस विशाल क्षेत्र के लोगो में कभी भी भावात्मक और सास्कृतिक ऐक्य उत्पन्न नही हो सका था और न ही उनमें कभी दृढ मनोवैज्ञानिक और मानसिक अनुरूपता विकसित हुई थी। इन तमाम शताब्दियो में हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न लोगो के सास्कृतिक और ऐतिहासिक भूतकाल की ओर देखने से यह स्पष्ट हो जायगा।

हिन्दी क्षेत्र के लोगो का या उत्तरप्रदेश का कोई सामान्य इतिहास अभी तक उपलब्ध नही हुआ और यहाँ के प्राचीन लोगो के दो या तीन सहस्राब्दियो के पिछले इतिहास की जानकारी के लिए इधर-उधर बहुत-सी बिखरी सामग्री ढूँढनी पडती है। यह कितनी अनहोनी बात है कि 'हिन्दी-भाषी राष्ट्र' को, जिसने जापान को छोडकर एशिया-भर में सबसे अधिक औद्योगिक उन्नति की और सर्वोच्च शक्तिशाली मध्यवित्त वर्ग को जन्म दिया, अपने इतिहास की भी जानकारी नही। एक शताब्दी से अधिक काल से पूँजीवादी सम्बन्ध हमारी सामाजिक पद्धति में पनप रहे हैं तो भी यदि आप हिन्दी क्षेत्र के किसी व्यक्ति से यह कहे कि उसका 'राष्ट्र' सकल-भारत न होकर केवल हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित है तो उसे यह समझाना सरल न होगा कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है।

इससे यह सिद्ध होता है कि आज तक समस्त हिन्दी-क्षेत्र के लिए सास्कृतिक, मानसिक और भावात्मक ऐक्य उत्पन्न नही हो सका है, जिसके बिना एक सामान्य भाषा का विकसित होना बहुत कठिन है। अपने को उत्तर-प्रदेश में सीमित रखने से इस समस्या पर अच्छी तरह प्रकाश डालने मे आसानी होगी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद (आगरा व अवध के) सयुक्त प्रान्त के स्थान पर कोई और नाम खोजने के लिए यू० पी० की विधान सभा में बडा रोचक वाद-विवाद हुआ था। उत्तर प्रदेश नाम रखने से पूर्व बीसियो नामो का सुझाव दिया

गया था और हमारे सामने एक ऐसे 'राष्ट्र' का दृश्य उपस्थित हुआ जिसका कई हजार वर्षो का प्राचीन इतिहास है तथा जो कई सभ्यताओ का अभिगृह होते हुए भी, अपना कोई लक्षण न खोज सका।

उत्तरप्रदेश की अधिकाश जनता अवधी या ब्रजभाषा बोलती है। उसने रामायण और महाभारतकाल के बाद से अब तक किसी भावात्मक और मनोवैज्ञानिक समजातित्त्व का अथवा सस्कृति की समरूपता का विकास नही किया। यह कोई आकस्मिक घटना नही है कि तुलसी ने अपने रामचरितमानस की रचना अवधी में और सूर ने अपने सूरसागर की रचना ब्रजभाषा में की। ब्रज और अवध के परस्पर सम्बन्धित पडोसी लोगो की सस्कृतियो में सादृश्य के तत्त्व बहुत अधिक हैं। किन्तु केवल सामान्य तत्त्वो पर जोर देने से तथा दो हजार वर्षो की सास्कृतिक और भावात्मक विशिष्टताओ से आँख मूँद लेने से तो बहुत से आधुनिक 'राष्ट्रो' का अस्तित्व ही जाता रहेगा।

जहाँ तक इतिहास का सम्बन्ध है ऐसा लगता है कि अवध और ब्रजभूमि के लोग कभी भी लम्बे अरसे के लिए ऐतिहासिक एकता प्राप्त नही कर सके। आन्तरिक सश्लेषण की शक्तियाँ कभी भी इन प्रतिवेशी लोगो को एक सामान्य जीवन में ग्रथित करने में समर्थ न हो सकी। बौद्धधर्म का प्रवाह मगध से आया और बाद मे मौर्य-वश का उत्थान पटना से हुआ। मौर्यकाल के बाद ब्रज भूमि में शौरसेन तथा अवध मे कोशल राज्य थे। उस काल की मुद्राओ से यह प्रतीत होता है कि शौरसेन के शासक हिन्दू थे और कोशल के बौद्ध। तत्पश्चात् पच्छिम से कुशन आये और मथुरा मे कनिष्क का शासन हुआ जो पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसके बाद फिर मगध से गुप्तवश प्रारम्भ हुआ, हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म को आच्छादित कर लिया और सस्कृत ने प्राकृतो को एक ओर धकेल दिया। छठी शताब्दी में अवध में, जहाँ जगलो का विस्तार हो गया था, छोटे-छोटे सामन्त उदय हुए जो अपने को मौखारी कहते थे। सातवी शताब्दी मे थानेश्वर से हर्षवर्धन ने आकर शौरसेन भूमि मे राज्य स्थापित किया जिसमें कुछ काल तक अवध के कुछ भाग भी थे। आठवी शताब्दी में और उसके बाद मुसलमानो के आगमन तक, राजपूताना और मालवा से गुर्जर-प्रतिहारो ने कन्नौज में अपना राज्य स्थापित किया जिसमें अवध साधारणत नही था। मुसलमानो के अवध और ब्रज मे अलग राज्य थे। ब्रज को वे 'आगरा सूबा' कहते थे। जब अग्रेजो ने इन दो क्षेत्रो को मिला दिया तब वे इसका नाम 'यूनाइटिड प्राविंसिस (सयुक्त प्रान्त) आव आगरा ऐंड अवध' के अतिरिक्त और कुछ न चुन सके।

कोई भी शताब्दी ऐसी नही जिसमे इन प्राचीन और अमर जातियो ने दमन के विरुद्ध विद्रोह न किया हो और विरोध[1] के नये रूपो का उद्विकास न किया हो। इनका स्वरूप चाहे धार्मिक या अन्य कुछ भी रहा हो किन्तु ये अवध और ब्रज के लोगो मे कदापि सामान्य नही रहे, यहाँ तक कि इन दोनो क्षेत्रो में सगुण भक्ति भी दो विभिन्न धाराओ मे प्रवाहित हुई। इन लोगो की वीरता और शौर्य्य के कार्यो ने इनकी सस्कृति में स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है। इनकी भाषाओ तथा बोलियो मे इनके वीरो के बारे में अलग-अलग गीत और कथाएँ हैं। किन्तु समस्त उत्तर प्रदेश या हिन्दी-क्षेत्र की जनता के हृदय को स्पर्श करने वाली किसी गाथा, कथानक या लोकगीत का प्राप्त करना कठिन है। यदि उन सबमें सास्कृतिक एकता उत्पन्न हो चुकी होती तो ऐसा अवश्य होता। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-सघर्ष में भी इस तरह की जातीय एकता की भावना के दर्शन केवल अवधी, बुन्देली इत्यादि में हुए। इस पर ध्यान आकर्षित करते हुए मार्क्स ने कहा है कि कम्पनी की सेना में "अवध के ४०,००० सिपाही थे जो जाति और राष्ट्रीय एकता द्वारा परस्पर सम्बन्धित थे, यह समस्त सेना एक-भावनाबद्ध थी, यदि अधिकारी किसी एक टुकडी की भावना को चोट पहुँचाता था तो उसे सब अपना अपमान समझते थे।[2]

यहाँ उन पार्थिव शक्तियो की विवेचना करने की आवश्यकता नही, जिनके कारण हमारे इतिहास में ये विशिष्टताएँ बनी रही। किन्तु यह स्पष्ट है कि जब कभी विदेशी विजय के सघातबल में ढील पडी तब उत्तर प्रदेश की जनता ने कभी भी एकता की भावना प्रदर्शित नही की, किन्तु यह उन क्षेत्रो के लोगो में ही लक्षित हुई जिन्होने उन सामान्य भाषाओ को विकसित किया जो आज-कल हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ कही जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो 'जनपद आन्दोलन' के जन्मदाताओ में से है, अपने घोषणापत्र "जनपद-योजना" में यह सिद्ध किया है कि इन प्रादेशिक भाषाओ के क्षेत्रो में शतशत वर्षों पीछे की सस्कृति और इतिहास है। उन्होने मार्कण्डेय तथा कई पुराणो को उद्धृत करते हुए यह दिखाया है कि जनसाधारण ने इन प्रादेशिक भाषाओ के क्षेत्रो में आज तक उन समस्त सास्कृतिक विशिष्टताओ को स्थिर बनाये रखा है।

अवधी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि

---

१ अयोध्या के धर्मस्थानो के मुसुलमान नवाबो के अधिकार में चले जाने पर अवध के किसानो के बार बार जो विद्रोह हुए उनका थोडा सा वर्णन मौलाना मुहम्मद नजमुलग़नी खाँ लिखित 'तारीख अवध' मे उपलब्ध है।

२. कार्ल मार्क्स 'क्रानोलाजिकल नोटस आन दि हिस्टरी आव इण्डिया'।

गण-गोत्रो, उपजातियो तथा जातियो की भाषाग्रो ग्रौर बोलियो ने सश्लिष्ट ग्रौर विकसित होकर कैसे ग्राधुनिक ग्रवधी भाषा का रूप धारण किया है। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद ग्राधुनिक ग्रवधी भाषा की कई बोलियाँ ग्रवध के ग्रन्तर्गत उपजातियो ग्रौर नवोदित जातियो के भाग्य के साथ उभरती ग्रौर गिरती रही। मुगलो के ग्रागमन के ठीक पूर्व बैसवाडी बोली को प्रमुख पद प्राप्त था। इसी बोली में जगनिक तथा ग्रन्य ग्राल्हे लिखे गये जो उस काल में तथा उसके बाद भी समस्त उत्तरी भारत मे जनप्रिय रहे। ग्रवधी की किसी ग्रपभ्र श भाषा का पता नही चलता। इसका कारण यह नही कि ग्राधुनिक ग्रवधी भाषा किसी पूर्व रूप में उस समय विद्यमान न थी वरन् यह कि ग्रवध में तब विभिन्न उपजातियो ग्रौर सामन्ती इलाको की ग्रपनी-ग्रपनी उपभाषाएँ थी ग्रौर ऐसा विशाल राज-दरबार ग्रस्तित्व में नही ग्रा सका था जहाँ इन उपभाषाग्रो का कृत्रिम या स्वाभाविक सहमिलन हो सकता। ग्राचार्य शुक्ल ने 'बुद्धचरित' की भूमिका मे ग्रवधी के ग्रनेक पदो को नागर ग्रपभ्र श के उदाहरणो से निकाला है ग्रौर कुछ ग्रौर विद्वान् ग्रर्धमागधी ग्रपभ्र श की कल्पना करते है, क्योकि ग्रवध शौरसेन ग्रौर मगध के बीच है ग्रौर शौरसेनी ग्रौर मागधी प्राकृतो के साथ-साथ एक ग्रर्धमागधी प्राकृत भी उपलब्ध है, यद्यपि उसमें ग्रवधी के तत्वो का नितान्त ग्रभाव है। तुलसीदास ने जब ग्रपनी रचनाग्रो का प्रारम्भ किया तो उन्हे किसी ग्रर्धमागधी की ग्रपभ्र श या परवर्त्ती ग्रवधी ग्रपभ्र श की परम्परा का ग्रस्तित्व मालूम नही था, ऐसा जान पडता है। नही तो वे उसी भाषा या उससे प्रभावित भाषा मे भी कुछ लिखते जैसा कि उन्होने ग्रनेक सस्कृत शब्दो के ग्रपभ्र श रूपो का प्रयोग किया है। तुलसीदास ने न तो कुछ बैसवाडी में लिखा जो पूर्ववर्ती ग्राल्हो की लोकप्रिय भाषा थी ग्रौर न जायसी को 'पदमावत' की भाषा पूर्वी ग्रवधी मे। मुसलमान सूफी कवि मुहम्मद जायसी ग्रमैठी की जागीर मे रहे ग्रौर वही मरे। यह जागीर ग्रब सुल्तान-पुर में है। यदि 'पदमावत' की भाषा के लिए वे उस रजवाडे की बोली से बाहर कही गये तो केवल ग्रासपास की पूर्वी ग्रवध की बोलियो की शरण में।

तुलसी के काल में वणिज-व्यापारिक ग्रर्थव्यवस्था की वृद्धि के साथ ग्रवध की जन-भाषाग्रो का भी परस्पर सहमिलन द्वारा एक सामान्य भाषा बनना प्रारम्भ हो गया था। इस कार्य में ऐतिहासिक ग्रौर सास्कृतिक समानता से भी प्रोत्साहन मिला। ग्रवध में नई समृद्धि की मात्रा इससे विदित होगी कि मुगलो के ग्रवध सूबे का भूमिराजस्व १६वी शताब्दी भर में लगभग दूना हो गया था। वाणिज्यिक क्रिया-विक्रिया के विस्तार का परिणाम एक सामान्य प्रामाणिक भाषा

के विकास में हुआ जो अवध की कई बोलियो पर व्यवहृत की जाने लगी। इस-लिए बैसवाडी या अमेठी रियासत की बोली की अपेक्षा तुलसीदास ने इस भाषा को अपनी भाषा का आधार बनाया। जैसे लूथर ने जर्मन भाषा के विषय में किया था वैसे ही तुलसी ने भी अवध के लिए एक टकसाली भाषा के विकास मे पूर्वी और पश्चिमी अवध की बोलियो के शब्द लेकर योग दिया। तुलसीदास ने बुन्देल-खण्ड-स्थित बादा में जन्म लिया था और वे बहुत समय तक भोजपुरी भाषा-क्षेत्र मे बनारस में रहे थे, जहाँ उन्होने निर्गुण सन्तो की खडी बोली की शब्दा-वली से भी परिचय प्राप्त किया था। इसी से उनकी भाषा मे बुन्देलखडी, भोजपुरी और खडी बोली के कुछ तत्त्व आ गये है किन्तु यह सर्वदा स्वीकार किया गया है कि उसका आधारभूत व्याकरणीय स्कन्ध और शब्दावली अवधी की हे, खडी बोली की नही। ऐसा होते हुए भी यह धारणा प्रस्तुत की जाती है कि तुलसीदास की रामायण की (जैसा कि रामचरितमानस को समस्त उत्तरी और मध्यभारत में पुकारा जाता है) महान् लोकप्रियता ने ही खडी बोली हिन्दी को हिन्दी क्षेत्र की राष्ट्रभाषा के रूप में निर्गत होने में सहायता दी। किन्तु यह तथ्य बिलकुल उपेक्षित कर दिया जाता है कि रामचरितमानस ने हिन्दी-क्षेत्र के बाहर पजाब में, ब्रजभूमि या राजस्थान की अपेक्षा जहाँ कृष्णभक्ति का प्रचार रहा, अधिक लोकप्रियता प्राप्त की। रामचरितमानस की लोक-प्रियता का कारण कुछ और ही है और उसे समझने से हमें अपने सास्कृतिक भूतकाल की कई कठिन समस्याओ का समाधान मिल जाता है।

तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म और गृहस्थमार्ग का प्रचार किया, इस पर पर्याप्त बल दिया जाता है। किन्तु यह तथ्य उपेक्षित कर दिया जाता है कि रामचरितमानस में तुलसी अपने काल के प्रतिबिम्ब भी है। हिन्दी के लेखको में अभी कुछ वर्षो मे तुलसी के रामचरितमानस के यथार्थ स्वरूप पर विवाद चल रहा है। डॉ० रामविलास शर्मा[१] तुलसी की कृतियो को उस काल के सामन्तवाद के विरुद्ध एक प्रभावशाली शक्ति समझते है और भदन्त आनन्द कौशल्यायन[२] तुलसी को ब्राह्मणो के दमन का सबसे बडा समर्थक बतलाते है। इनके मध्य मे अनेक लेखको ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए है[३] और उनमें

१. नया पथ—लखनऊ, अगस्त १९५३।

२. नया पथ—लखनऊ, जुलाई १९५५।

३. इनमें तीन लेखक प्रमुख है—भगवतशरण उपाध्याय (नया पथ, नवम्बर १९५३), आदित्य मिश्र (नया साहित्य, अक्तूबर, १९५१) और परशुराम (कल्पना, फरवरी, १९५३)।

से कई साधारणत तुलसीदास को प्रगतिवादी नही मानते ।

यह पहले कहा जा चुका है कि तुलसीदास मध्ययुगीन धार्मिक विचारो के चतुर्थ रूप के सर्वोच्च और अग्रणी प्रतिनिधि थे। ये व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था के साथ सम्मुख आये। यह मार्ग सामाजिक अवगुणो को स्वीकार करता था और उसकी आलोचना भी करता था और इसी आधिभौतिक आधार पर धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन की सरचना के लिए प्रयत्नशील था। ऐसे धार्मिक विचार व्यापारिक-वर्ग के हितो के अनुकूल थे और उन्ही की पूर्ति के लिए प्रादुर्भूत हुए थे। इसने नवीन व्यापारिक रीतियो, जिनकी वाणिज्यिक प्रतियोगिता में आवश्यकता थी, और धार्मिक विश्वासो में मेल कराने में सहायता ही नही दी, किन्तु नवोदित मुद्रा-माल अर्थ-व्यवस्था के भली भाँति विकास के लिए घातक निर्गुण-सत मतो, लीला-भक्ति साधना और सन्यासवाद की विद्रोही प्रवृत्तियो को दबाया भी। नये आर्थिक और व्यापारी सम्बन्धो के आने के साथ साथ, सामाजिक और बाह्य जीवन की लोलुपता और मलिनता तथा वैयक्तिक और आन्तरिक जीवन के धर्म-सस्कारो में जो विरोध उत्पन्न हो गया था, उसका समाधान बहुत आवश्यक हो गया था। इस प्रकार मध्यकालीन धार्मिक विचार का यह चतुर्थ रूप उत्तरोत्तर लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था।

तुलसीदास की वर्ण-व्यवस्था के प्रति निष्ठा और ब्राह्मणो की पूजा—कई स्थलो पर भगवान् राम स्वय ब्राह्मणो के पैर पूजते हुए दिखाये गए हैं—उस समय इतनी प्रतिक्रियावादी न थी, जैसा कुछ लोगो का आज विश्वास[1]

१. जान अरविन "यहाँ कदाचित् यह कहना पर्याप्त होगा कि भारत में मध्ययुगीन समाज का पता वर्ण-व्यवस्था से नहीं किन्तु शिल्प-कौशल के उत्पादन से लगता था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शिल्प के आधार पर समुदाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट कार्य पूर्ण करता था। दृढ़ पुरोहितैश्वर्य की परम्परा में सामाजिक भेदो को विस्तृत आर्थिक सगठन की दृष्टि से देखना चाहिए। एक व्यक्ति का अस्तित्व समाज मे अपने दायित्व से भिन्न नहीं था और वह एक व्यक्ति विशेष के नाते नही वरन् समाज में अपने काम-धन्धे की परिधि में ही अपने-आपको देखता था। यद्यपि आधुनिक पूँजीवादी दृष्टि से वैयक्तिक स्वाधीनता न थी फिर भी वास्तविक जीवन में उसका अपना यथार्थ व्यक्तित्व था। ऐसा तो अब हुआ है कि उत्पादन का मध्ययुगी ढग सामाजिक प्रगति के लिए बन्धन बन गया है और वर्ण-व्यवस्था का निरकुश और प्रगतिगामी स्वरूप दिखाई देता है। (क्लास स्ट्रगल इन

है। कई शताब्दियो की दूरी से जब हम इस देश मे मुसलमानो का आगमन देखते है तब इस बात को भली प्रकार समझ नही पाते कि उस काल मे जनता की यह धारणा हो चली होगी कि उनका अस्तित्व ही सकटग्रस्त है। तुलसीदास रामचरितमानस के बालकाण्ड में कहते है कि जहाँ कही वे (मुस्लिम आक्रमणकारी) गाय और ब्राह्मण पाते है उस गाँव, नगर तथा प्रदेश मे वे आग लगा देते है। प्रारम्भ में मुस्लिम सेनाओ द्वारा जगलो और सिचाई की नहरो, तालाब इत्यादि के नष्ट कर दिये जाने के कारण ही पजाब, राजस्थान और सिंध का बहुत-सा प्रदेश ऊसर हो गया। राजस्थान और पूर्वी सिंध के रेगिस्तान इन्ही के सैन्य-दलो द्वारा विस्तृत हुए। ठीक जैसे सहारा का विशाल रेगिस्तान अरब जातियो द्वारा उत्तर और मध्य अफ्रीका के जगलो और वृक्षो को नष्ट करने से फैला था।[1]

इसी कारण दसवी शताब्दी के आसपास राजपूताना से राजपूत, आभीर, अहीर, गुर्जर जातियो का विशाल पैमाने पर बहिर्गमन हुआ। उत्तरपच्छिम भारत के बहुत से भागो में रहने वाले लोग आक्रमणकारी सेनाओ की लूट-मार के कारण सब दिशाओ में, जैसा अलबेरूनी ने कहा है "धूलि के कणो के समान बिखर गये।" अन्य कई क्षेत्रो के लोगो को भी इस बरबादी के कारण घर-बार छोडकर भागने के लिए बाध्य होना पडा। तथा वे जहाँ-जहाँ गये इस विनाश और दुर्गति की कहानी बढा-चढाकर ले गये। एक तो नये शासको की धार्मिक क्रियाएँ नितान्त भिन्न थी, दूसरे उनकी रणनीति भी उस काल के लोगो की समझ में बिल्कुल न आ सकी। अकबर तक ने चित्तौड-विजय के बाद सर्वसहार की आज्ञा दी थी और गुजरात मे खोपडियो का एक मीनार बनवाया था। एक के बाद दूसरी शताब्दी में ये नये आक्रमणकारी आते रहे, जो पहले की बाहर से आने वाली जातियो से बिल्कुल भिन्न थे। कभी समाप्त न होने वाले इन धावो और बाद में सिहासनाधिकार के लिए किये जाने वाले युद्धो ने नगरो

इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर—माडर्न क्वार्टरली—सख्या १, न० २, मार्च १९४६)।

१ देखिए रिचर्ड सेंट बार्बे बाकर 'सहारा चैलेंज' लन्दन १९५४।
'प्राब्लम आव सहारा' में प्रो० एस० यारकव लिखते है . "डेढ हजार वर्ष पूर्व मध्य अफ्रीका में अरब आ गये और उस महाद्वीप में आगे बढते हुए उन्होने बड़े प्राचीन जगलो को नष्ट कर दिया। उसके बाद उनके ऊटो और बकरियो के विशाल झुण्डो ने घास, झाडियो और वृक्षो की बरबादी की" (न्यू टाइम्स—मास्को, सितम्बर ८, १९५५)।

और गाँवो को उजाड दिया। यह सब देखकर उस काल के भारतीय हिंसा और भय से त्रस्त हो उठे होगे। कुछ निम्नवर्ण के कारीगरो और उपजातियो के इस्लाम को विद्रोह और अवज्ञा के रूप में स्वीकार करने से दूसरे लोगो में भय और सकट की भावना और भी बढी होगी। इस कारण उन्होने वर्ण-व्यवस्था को आग्रहपूर्वक पकड लिया, जो यद्यपि उनके सामाजिक जीवन को गतिरहित कर रहा था फिर भी उनके परित्राण का साधन था। वर्णव्यवस्था ने विचारो का एक ऐसा वायुमण्डल तैयार करने में सहायता दी जिसमें वैश्यो और शूद्रो ने ब्राह्मणो और क्षत्रियो द्वारा शोषण स्वीकार किया और बिना अधिक दमन-दबाव के अपना आयाधिकार उन्हे सौंप दिया। बल-प्रयोग के स्थान पर धार्मिक स्वीकृति ने जहाँ वर्ग-सघर्ष होता वहाँ सन्तुलन प्रदान किया और इससे व्यवस्था को स्थायित्व और अपरिवर्तनशीलता मिली। मुस्लिम आक्रमणकारियो के प्रहारो के कारण क्षत्रिय-वर्ग शक्तिहीन हो गया था। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि तुलसीदास द्वारा मर्यादित वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणो के सम्मुख बिना शर्त आत्मसमर्पण करने की प्रेरणा थी। यह पूर्व निर्देशित क्रम का चरम विकास था जिसमे भारत की समस्त अहिन्दू जातियो और समुदायो ने इस्लाम का विरोध करने के लिए ब्राह्मणो की प्रभुता को स्वीकार कर लिया था। अपने जीवन की रक्षा के लिए अस्त्र के रूप में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणो की प्रभुता की स्वीकृति कितनी प्रभावशाली थी यह ऐसी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुए सिक्खो के उत्थान में देखी जा सकती है। सिख गुरुओ ने उन समस्त बातो का विरोध किया जो मुसलमानो के साथ आईं, जैसे तम्बाकू और केश कटाना इत्यादि। अलबेरूनी और अन्य कुछ लेखको के अनुसार, मुसलमानो के आगमन से पूर्व ब्राह्मणो और सन्यासियो के कुछ वर्गों को छोडकर भारतीय लम्बे केश और दाढी रखाते थे[1]। किन्तु सिख गुरुओ ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता को दूर करने का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पजाब में इस्लाम का विरोध, यद्यपि अत्यन्त प्रबल रहा, फिर भी उसमें वह दुर्दान्त शक्ति नही थी जो वर्ण-व्यवस्था ने उत्तरीभारत में अन्य स्थानो में प्रदान की।

यदि तुलसीदास ब्राह्मणो की रूढिवादिता में वास्तव में विश्वास करते होते तो उन्होने ब्राह्मणो की परम्परागत भाषा सस्कृत का आश्रय लिया होता। रामचरितमानस के प्रारम्भिक पदो में उन्होने कहा है कि वे पडितो की भाषा से दूर रहकर जनता की भाषा मे लिखना चाहते है। तुलसी ने 'नाम' की

१. अलबेरूनी · किताबुल हिन्द—अजुमन ए तरक्की ए उर्दू।

निर्गुण परम्परा को स्वीकार किया जो ब्राह्मणो के पुरोहितवाद पर आक्रमण है। निर्गुण भक्ति आन्दोलन ने व्यक्ति को 'नाम' द्वारा अपनी रुचि के अनुसार बिना वर्ण-जाति-पाति की बाधा के मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बताया था और यह वास्तव में सामन्त-काल में रूढिवाद के विरुद्ध सबसे बडी चुनौती थी।

तुलसीदास से पूर्व की शताब्दियो में रामायण की कथा उत्तरोत्तर जनप्रिय हो रही थी[1]। उस काल के लिए उसमें एक महान् आशा का सन्देश था। उस कथा में वर्णन किया गया था कि महान् आपत्तिकाल मे भी जब राक्षसराज रावण ने समस्त ससार, स्वर्ग और नरक जीत लिये थे तब सूर्यवंशी राम ने विजय प्राप्त की और अधकार को दूर किया। इस कथा ने उस वाणिज्योन्मुख समाज में, जहाँ धन-वृद्धि के साथ पापाचरण मानव-नियन्त्रण से बाहर हो रहा हो, गार्हस्थिक जीवन की पवित्रता और वैयक्तिक सदाचारो को पुन प्रतिष्ठित किया। नैतिकता के शिथिल वातावरण में उसने पति-पत्नी-व्रत की आवश्यकता, प्रतिज्ञा की दृढता और मानव-सम्बन्धो के मूल्यो पर बल दिया। भगवान् राम का चरित्र उस काल के सर्वथा उपयुक्त था और उसकी बोलचाल की भाषाओ में माग बहुत अधिक रही होगी। सिडनी फिंकल स्टीन[2] ने बताया है कि बाइबिल का देशी भाषाओ में अनुवाद और धर्म की जनता के हितानुसार व्याख्या यूरोप मे किसान, जुलाहे, कारीगर और मध्य-वर्ग के लोगो के सामन्ती प्रभुता के विरुद्ध सघर्ष का एकरूप था[3]। भारत में उस समय रामायण के अनुवाद की तीव्र आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योकि विदेशी धर्म और जाति के लोगो के हाथो मे शासन था और वे ही सामन्ती प्रभु थे। रामायण का जनप्रिय अनुवाद करने में तुलसीदास ने जनता में प्रचलित समस्त छन्दशास्त्र के रूपो को अपनाया। वर्णव्यवस्था को तथा ब्राह्मणो की पवित्रता को मान्यता देते हुए भी उन्होने समस्त वर्गों के प्रति स्नेह और सौहार्द

१. सर चार्ल्स ईलियट "ऐसा १४वी और १५वीं शताब्दी में ही हुआ कि राम बहुत समुदायो के लिए केन्द्रीय और उच्चतम दिव्य पुरुष बने। ए० एल० बशाम : "यह सम्भवत विशिष्ट तथ्य है कि उन(श्रीराम)का सम्प्रदाय मुस्लिम आक्रमण के बाद जनप्रिय हुआ" (दि वन्डर दैट वाज इण्डिया)

२. सिडनी फिंक्लस्टीन · "हाऊ म्यूज़िक एक्सप्रेसेज आइडियाज" (इण्टरनेशनल पब्लिशर्स—न्यूयार्क)

३ अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री आव बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर" में दिनेशचन्द्र सेन लिखते हैं कि अपनी आजीवन की खोज में मध्यकालीन देशी हस्तलिखित ग्रन्थ उन्हें सदा निम्नवर्णों के मकानो में ही मिले।"

अभिव्यक्त किया। अयोध्या में शूद्र निषाद का स्वागत लक्ष्मण के समान होता है और उसकी विदा पर राम उसे बन्धु और सखा कहते हैं।

तुलसीदास के रामचरितमानस ने सिंधुतट के उस पार से गगासागर तक हिन्दुओ में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की और इन तमाम शताब्दियो में वह निरन्तर लोकप्रिय रहा। यह इस कारण न था कि उसकी रचना लोगो की बोलचाल की भाषा में हुई थी या वे उसे एक अवधवासी की तरह समझ सकते थे, किन्तु इसलिये कि वह एक ऐसा साधन था जिससे जनता महान् विपत्ति की उन परिस्थितियो में भी अपनी सास्कृतिक परम्परा में जो कुछ सर्वोच्च और श्रेष्ठ था उसे अपनी मतिअनुसार अपनाये रख सकती थी। सगुण मूर्ति-उपासना के साथ निर्गुण सन्तो की परम्परा में रामनाम पर बल देने और साथ-साथ उस काल का यथार्थ चित्रण करने से—महाराज दशरथ की राजसभा का वर्णन दरबार कह कर किया गया है और भगवान् राम बारम्बार साहब कहे गए हैं—उसे अद्वितीय लोकप्रियता मिली। राम की भूमि की भाषा अवधी में उसके होने से उन लोगो पर उसका रहस्यात्मक प्रभाव पडा जो उसे ठीक तरह समझ नही सकते थे।

नई अवधी चेतना और अवध के एक देश होने का मनोवैज्ञानिक प्रतिबोध कितने प्रबल रूप से उस समय उजागर हो रहा था, वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने भगवान् राम का वर्णन करते हुए अयोध्या से अधिक अवध का नाम लिया है। इसका उल्लेख करते हुए प० रामचन्द्र द्विवेदी 'तुलसी साहित्य रत्नाकर' में लिखते हैं: "अयोध्या नाम की अपेक्षा 'अवध' नाम उन्हे (तुलसी को) अधिक प्यारा था। रामचरितमानस के द्वितीय काण्ड का नाम भी आपने अवधकाण्ड ही रखा था, जो समय पाकर परिवर्तित हो गया' ·· कविराज ने श्री रामचन्द्र जी अथवा कही-कही श्री दशरथजी महाराज को भी अवधेश, अवधपति, अवधनाथ, अवधराज, अवधनरेश, अवधपाल के नाम से पुकारा है। बालकाण्ड में सब देवी-देवताओ और महापुरुषो की वन्दना के साथ ही भक्त-प्रवर ने अवधपुरी की भी वन्दना की है।"

अवधी भाषा के विरुद्ध यह तर्क भी दिया जाता ह कि "उन्नाव, सीतापुर, इलाहाबाद और जौनपुर जिलो मे बोली जाने वाली अवधी में बहुत भेद है। किन्तु यह एक आशिक सत्य है। निस्सन्देह उत्तरीभारत में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में, प्रामाणिक भाषाओ का पूर्णरूप से विकास इस कारण न हो सका कि व्यापारिक अर्थव्यवस्था को जल्दी ही धक्का लग गया था और बाद के मुगलो के समय मे जनता बहुत दरिद्र हो गई थी। उसके बाद ब्रिटिश साम्राज्य आया और

शोषण के पूँजीवादी रूपो के विकास के साथ-साथ सामन्ती सम्बन्ध भी दृढ हुए। फिर भी, इन भाषाओं के पूर्ण विकास की कमी यह प्रदर्शित करती है कि यदि भाषाएँ इतने छोटे पैमाने पर बढ नही सकती थी तो उनका समस्त हिन्दी-क्षेत्र-भर में एकरूपता प्राप्त करना कितना असम्भव था। विचार करने वाली बात यह है कि तुलसीदास ने अवधी की किसी भी बोली में नही लिखा किन्तु उस भाषा में लिखा जिसका जन्म इन्ही बोलियो से हुआ था और जो इनके ऊपर फैली हुई थी। इसके अतिरिक्त, तुलसीदास की रामायण ने अवध के आध्यात्मिक जीवन को इस सीमा तक और इस ढग से समृद्धिवान बना दिया जो अन्य स्थानो में अविदित था, जहाँ उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। 'गजेटियर ऑफ इण्डिया' में भी स्वीकार किया गया है कि :

"पूर्वी हिन्दी (अवधी) मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास की कृतियो से बहुत उच्च श्रेणी की काव्यभाषा बन गई। ये काव्य जनता की विशुद्ध बोलियो पर आधारित हैं, और सस्कृत शब्दो के जारज मेल से थोथा सम्मान न प्राप्त कर, इन्होने बोलचाल की भाषा पर प्रतिक्रिया की है जिससे अवध के खेतो में सुनी बोली में भी कविता और स्वच्छन्दता का विशिष्ट सौन्दर्य आ गया है। अवध का प्रत्येक ग्रामीण अपने राष्ट्रीय साहित्य से ओतप्रोत है और उसके महान् लेखको के उद्धरण उसके ओठो से जिस स्वाभाविक प्रवाह से निकलते हैं वैसा प्रवाह एक स्कॉटलैण्ड निवासी द्वारा कहे गये बर्न के पदो में भी नही।"

इसी प्रकार सूर ने ब्रज प्रदेश की नवीन विकसित प्रामाणिक भाषा का व्यवहार किया और ब्रजभाषा के विकास में सहायता दी। उस काल के एक राजस्थानी कवि ने सारगर्भित ढग से एक दोहे में ब्रजजनो के देश को ब्रजदेश और उनकी सामान्य भाषा को 'मधुर' कहा है। अबुलफजल ने आईन-ए-अकबरी मे दिल्ली की भाषा—जबान-ए-देहलवी—का ब्रजभाषा से भेद किया है। औरगजेब के समय में मिर्जा खाँ ने अपनी पुस्तक 'तोहफातुलहिन्द' मे ब्रजभाषा के व्याकरण को समाविष्ट किया है। केवल मध्यकालीन हिन्दी के इतिहास में ही नही, किन्तु साधारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी 'रीतिकाल' अत्यन्त समृद्धिशाली और प्रभावपूर्ण काल माना जाता है। ब्रजभाषा मे साहित्य का यह बहुप्रसवी फलना-फूलना मुगल दरबार के आगरा चले जाने पर हुआ। हिन्दी प्रदेश की अन्य भाषाओ में किसी कारण यदि साहित्य की ऐसी अपूर्व सृष्टि न हो सकी तो उसका कारण यह नही है कि उन क्षेत्रो की प्रामाणिक भाषाएँ अकुरित होकर बढ नही रही थी।

अध्याय ८

आधुनिक हिन्दी और उर्दू का उद्भव और विकास

हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी, जैसा उसे कभी-कभी कहा जाता है, कई बातों में उत्तरी भारत की जनता की सबसे महान् परम्परा है। खड़ी बोली क्षेत्र के बाहर हिन्दी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं के आम बोलचाल की भाषा होने पर ज़ोर देते हुए बहुधा यह समझा जाता है कि हिन्दी और ये भाषाएँ परस्पर विरोधी हैं। हिन्दी के समर्थक इन भाषाओं के अस्तित्व तक को नहीं मानते और प्रादेशिक भाषाओं तथा जनपद बोलियों के समर्थक इनका हिन्दी से कोई सम्बन्ध तक अस्वीकार करने लगे हैं। दोनों दलों को अन्य देशों के भाषा सम्बन्धी इतिहास से प्रमाण मिल जाते हैं, पर वे इस देश की अपनी सांस्कृतिक और भाषा सम्बन्धी विशेषताओं को नहीं देखते। यह दिखाया जा चुका है कि धर्म ने हमारे देश के विशिष्ट इतिहास का निर्धारण करने में प्रमुख भाग लिया है। प्रत्येक स्थान में संगठित धर्म सामन्ती पद्धति का आवश्यक भाग रहा है। एक में दूसरे के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता था, जैसा कि यूरोप के धर्मसुधार आन्दोलन (रिफार्मेशन) में देखा गया है। यूरोप की वैज्ञानिक क्रान्ति का इतिहास भी वहां की सामाजिक पद्धति के आधार पर निर्मित धर्म के ऊपरी ढांचे के प्रभाव को सूचित करता है। एक हज़ार वर्षों का अधिकतर भाग उस वैज्ञानिक चिन्तन के विकास में लग गया जो कि उस काल की धर्मरूढ़ियों के उपचयों और प्रतिरोध के बगैर २०० वर्षों से कम समय में ही निवृत्त हो गये होते।

भारत में समाज पर धर्म का अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसने वैज्ञानिक चिन्तन को बिलकुल निष्क्रिय कर दिया था। सांस्कृतिक अधिसंरचना (ऊपरी ढांचे) का अस्तित्व आधार की सक्रिय सेवा करने और उसको दृढ़ बनाने के लिए होता है। बाद में जब आधार में परिवर्तन होने लगता है, जिनके बिना सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती, तब पुरानी अधिसंरचना रुकावट का काम करने लगती है और साथ ही आधार में पनपते हुए नये

तत्वो की सेवा के लिए, नई अधिसरचना अकुरित होने और पुरानी से सघर्ष करने लगती है। भारतवर्ष में धर्म-सस्कारो की अधिसरचनाएँ असाधारण सक्रिय और अत्यधिक प्रमुख रही है। उसने अधिसरचना और आधार के हर पहलू को प्रभावित करके उत्पादन सम्बन्धो को, जो आधार को निर्धारित करते हैं, दृढ ही नही, ठोस और जड बना दिया। इससे भी बढकर उसने उत्पादन के आधार उपकरणो को जड बना दिया—भारत में सामन्तशाही के दीर्घकाल में कृषि-कर्म और परिवहन की पद्धति अपरिवर्तित रही। यह भी पहले कहा जा चुका है कि ऐसा होने का एक कारण वर्णव्यवस्था थी, जिसने समाज के सामन्तीकरण के साथ-साथ पिछले युग की ग्राम-पचायतो, पारिवारिक सघो और दासता पर आधारित शोषण के रूपो को स्थायी बनाया। इसी प्रकार भारत में भाषा सम्बन्धी विकास पर भी धर्म का बडा तीव्र प्रभाव पडा। जब तक हम इसे न समझ लेगे कि उत्तरी भारत के अनेक भागो की बोलचाल की भाषाओ का उल्लघन या उन्मूलन किए बिना, खडी बोली पर आधारित या खडी बोली मिश्रित भाषाओ को वहाँ न्यूनाधिक सुग्राह्य करने में धर्म ने कितना भाग लिया है, तब तक हम आधुनिक हिन्दी के स्वभाव और महत्त्व को समझ न सकेगे।

ब्रजभाषा कृष्णभक्ति से सम्बन्धित रही है, खडी बोली का फारसीमय रूप भारत में मुस्लिम धर्म से और खडी बोली के कुछ शब्द और व्याकरण के रूप योगियो, साधुओ और निर्गुण सन्तो से सम्बन्धित रहे है। कृष्णभक्ति का केन्द्र मथुरा था। यद्यपि भगवान् कृष्ण के भक्तो ने सामान्यतः अपने भजनो के लिए ब्रजभाषा ही को चुना, उनमें इधर-उधर भ्रमण करने वाले साधुओ का कोई सम्प्रदाय न था। इसके विपरीत निर्गुण सन्त, साधु, योगी और परिव्राजक खडी बोली को चारो ओर ले गये, क्योकि ये स्थान-स्थान में भ्रमण किया करते थे और उनके केन्द्र समस्त उत्तर भारत में थे। सामन्ती काल में ऐसे भी समय थे जब कि प्रत्येक पाँचवाँ या छठा भारतीय साधु होता था। मुगल काल में भी उनकी सख्या बहुत अधिक थी। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस[1] मे इसे कलियुग का एक दोष माना है और कहा है कि निम्न वर्ण के लोग—तेली, कुम्हार, चाण्डाल, किरात, कोल अपना सिर

१ जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर सम्पति नासी। मूँड मुडाइ होहिं सन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥

मुँडवा कर सन्यासी बन जाते है और ब्राह्मणो से आदर पाने का दावा करते है। किन्तु इसमें सन्देह नही, कि उससे खडी बोली क्षेत्र के बाहर कई केन्द्र और समुदाय अस्तित्व में आ गये थे जिन्हे खडी बोली के तत्त्वो से थोडा बहुत परिचय हो गया था। जब उत्तरकालीन मुगलदरबार, दक्षिण की सल्तनतो और सूफियो[1] द्वारा उर्दू का विकास हुआ तथा जब खडी बोली क्षेत्र के बाहर के भारतीय मुसलमानो ने उर्दू को अपनाया, खडी बोली को और भी प्रेरणा मिली[2]; भारत के कई भागो में उर्दू को अभी भी 'नबी जी की जबान' कहा जाता है। १९३१ की 'सेन्सस रिपोर्ट' में लिखा है कि बंगाल के कुछ कुलीन परिवारो ने इसलाम धर्म में प्रविष्ट हो जाने पर बगाली का बहिष्कार और उर्दू का व्यवहार करना चाहा था। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'शेखई' या 'जुलाही बोली' का उल्लेख किया है, जिसे मुसलमान जुलाहे—अन्सार—उत्तरी बिहार में अपनी अपभाषा के रूप में व्यवहार करते[3] है। इसमे अरबी, फारसी और खडी बोली के शब्दो का मैथिली से मिश्रण किया गया है। भोजपुरी क्षेत्र में उर्दू को 'मुगलई' अथवा मुगलो से सम्बन्धित भाषा कहा जाता है। दक्षिण भारत में उर्दू को 'मूर'—मुसलमानो की भाषा—पुकारा जाता रहा है। १९५१ की 'सेन्सस रिपोर्ट' के अनुसार मद्रास राज्य में लगभग ५ लाख मुसलमानो ने उर्दू को अपनी मातृभाषा कहा है। इसका उल्लेख करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि "यह सत्य है कि ये मुसलमान कुरान का अध्ययन अरबी में करते है, किन्तु उनकी मातृभाषा निश्चयात्मक रूप से तमिल है ··तो भी वे उर्दू या हिन्दुस्तानी को अपनी मातृभाषा कहते हैं[4]।"

इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि दिल्ली के व्यापारी मुगल-

१ देखिये—मौलवी अब्दुल हक—उर्दू भाषा के उत्थान में सूफियो का अंशदान।

२ डॉ० मोहम्मद हसन "इस कार्य में सहायता करने वाले बिखरे हुए मुस्लिम फकीर थे जो दूर-दूर के चक्कर लगाते थे और प्रेम और सर्वबन्धुत्व का सन्देश देते थे। ये फकीर साधारणतया विद्यमान भाषाओ के व्याकरण के ढाँचे और वाक्य-रचना ग्रहण कर लेते थे तथा अरबी और फारसी के शब्दो का व्यवहार करते थे जिसने आगे चलकर बाद में दूसरी लिपि का रूप धारण कर लिया।" (सम थाटस् आन् कल्चरल कमीशन रिपोर्ट, इण्डियन लिट्रेचर, बम्बई, नं० ३, १९५३।)

३ डॉ० उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य।

४ सेन्सस रिपोर्ट आव इण्डिया १९५१ मद्रास कुर्ग, भाग २।

साम्राज्य के पतन के बाद खडी बोली को भारत के अन्य स्थानो मे अपने साथ ले गये और इस प्रकार यह उन भागो की बोलचाल की भाषा हो गई।[१] व्यापारी साधारणतया अपने ग्राहको की भाषा स्वीकार कर लेते हैं और अपनी भाषा को धीरे धीरे छोड देते है। आक्रमणकारियो द्वारा ध्वस्त पजाब के अनेक नगरो के नाम आज भी उन क्षत्रिय, अरोडा, अग्रवाल आदि जातियो के उपवर्णों तथा पारिवारिक कुलनामो में चले आ रहे हैं, जो पूर्व में चली आईं। अरोडो के एक उपवर्ण चोप का उद्गम चौपायत नगर से, बालूजा का वालिज्यक से और बत्रा का वटरक से हुआ है। अग्रवालो का एक उपवर्ण सहारालिए अपना मूल स्थान लुधियाना ज़िले के सहराला को, जिसे पाणिनि ने सरालक कहा है, बनाता है। पजाब और खडी बोली क्षेत्र के इन व्यापारियो के वर्ण और उपवर्ण उत्तरप्रदेश तथा अन्य राज्यो में मिलते हैं, किन्तु उनका अपनी पहले की भाषा से कोई सम्बन्ध नही रहा है। दिल्ली के उजड जाने के बाद जो व्यापारी पूर्व की ओर गये, वे भी खडी बोली भूल गये होते—और बहुत से भूल भी गये—यदि ब्रिटिश शासको ने बिहार, यू० पी० और मध्यभारत में उर्दू को कचहरी की भाषा के रूप में लागू न किया होता। इसके अतिरिक्त ये व्यापारी मुश्किल से एक लाख की सख्या में रहे होंगे, जबकि सन्त-साधु, जिन्होंने खडी बोली का प्रयोग किया, और मुसलमान फकीर तथा सामान्य-जन, जिन्होंने उर्दू को अपनी धार्मिक भाषा के रूप मे ग्रहण किया कई लाख की सख्या में थे। इस विषय में दो मत नही हो सकते कि एक भारतीय पर व्यापार की भाषा की अपेक्षा धर्म की भाषा का अधिक प्रभाव पडेगा, खासकर जबकि व्यापारी वर्ग स्वय पतनोन्मुख हो।

एक सहायक कारण, जिसकी साधारणतया उपेक्षा कर दी जाती है, यह है कि खडी बोली का व्याकरण अत्यन्त सरल है। ग्रियर्सन ने इस पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है, "यह विचारणीय बात है कि उत्तरभारत की सब भाषाओ में यही एक ऐसी भाषा है जो विश्लेषण को अन्तिम छोर तक ले गई है। इसमें एक ही काल होता है, क्रियाओ के लिए वर्त्तमान सयोजक और सज्ञाओ के लिए एक ही यथार्थ कारक होता है। लगभग सभी काल के शब्दरूप और सम्बन्ध कृदन्त, सहायक क्रियाओ आदि द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं।"[२]

अब प्रश्न यह उठता है कि भारत में उर्दू का उद्गम मुसलमानो के

१ दे० हिन्दी शब्द सागर की भूमिका—काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२ लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया खण्ड ९, भाग २।

प्रभाव से हुआ या उसके बगैर। कई दशाब्दियो से उर्दू और आधुनिक हिन्दी के उद्गम पर लगातार खीचातानी हो रही है। उर्दू के बहुत से समर्थक ग्रियर्सन के इस कथन का कि उर्दू का जन्म भारत में इस्लाम के प्रभाव से हुआ खण्डन करते हैं। इसके विपरीत उनका तर्क है कि आधुनिक हिन्दी का कृत्रिम निर्माण अगरेजो के प्रभाव से हुआ और उर्दू के तद्भव बोलचाल के शब्दो के स्थान पर सस्कृत के तत्सम शब्द रखने से वह उत्पन्न की गई। भारतीय भाषाओ में फारसी के शब्द सम्भवत· ईसवीकाल के प्रारम्भ से आने लगे होंगे, जब शाक्य और अन्य आप्रवासियो के नवीन प्रवाह उन्हें अपने साथ लाये होगे। बाद में पजाब फारस के प्रभुत्व के अन्तर्गत आ गया। इसके अतिरिक्त भारत और ईरान में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध बराबर बना रहा।[1] यहाँ तक कि अजन्ता की एक गुफा में भी एक भारतीय राजदरबार में फारस के दूत के आगमन का दृश्य है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नही, कि भारतीय भाषाओ में आजकल के अधिकाश फारसी शब्द और प्रशासनिक पद, फारसी के मुगल दरबारो की सरकारी भाषा हो जाने के बाद आये। पूर्वी यूरोप में भी ऐसी ही घटना घटी थी, जहाँ यूगोस्लाविया सरीखे देशो की भाषाओ में, जो तुर्कों की अधीनता में रहे, उन पडोसी देशो की अपेक्षा, जो उससे बाहर रहे, फारसी, अरबी और तुर्की के शब्द अधिक सख्या में है।[2]

उर्दू का जन्म भारत की भाषाओ में कुछ फारसी और अरबी शब्दो के समाविष्ट हो जाने से नही हुआ। पश्तो, पजाबी, मराठी,[3] बगाली[4] ही नही तमिल[5] तक ने फारसी और अरबी से शब्द उधार लिये हैं, किन्तु खडी बोली क्षेत्र के अतिरिक्त कही और उर्दू के समान भाषा का उदय नही हुआ। मोलवी अब्दुलहक ने मराठी भाषा में फारसी शब्दो की बडी सख्या की ओर

१ दे०, आर० ई० एम० व्हीलर : ईरान एण्ड इण्डिया इन प्रीइस्लामिक टाइम्स (एन्शेंट इण्डिया-आरकोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, नई दिल्ली)

२ दे०, मुआइन उद्दीन यूगोस्लेव जबान में उर्दू के अलफाज़—हमारी जबान—अलीगढ, १५ जून १९५५।

३ मौलवी अब्दुलहक : मराठी जबान पर फारसी का असर—अंजुमन ए तरक्की ए उर्दू, औरंगाबाद।

४ दे०, एच० सी० पाल शिफ्टिड मीनिंग आव सम अरेबिक एण्ड परशियन वर्ड्स इन बंगाली—कलकत्ता रिव्यू—अगस्त १९५२ और नवम्बर १९५३।

५. वी० एल० सुब्रह्मण्यम् · मुस्लिम लिटरेचर इन तमिल—तमिल कल्चर मद्रास, जनवरी १९५३।

ध्यान खीचा है तथा प्रो० पाल ने बोलचाल की बगाली में फारसी और अरबी शब्दो की प्रचुरता की ओर सकेत किया है ।

उर्दू मुगलकाल में मुसलमान शासक वर्गो और उनके आश्रितो-अनुयायियो की कृत्रिम भाषा के रूप में पैदा हुई थी[१] । खडी बोली के बुनियादी शब्दो के भण्डार और व्याकरण के स्कन्ध पर फारसी और अरबी के शब्दो का ही नही उनके कुछ व्याकरण के नियमो का भी उपारोपण होने से इसका उद्भव हुआ । मुसलमानो का भारत में आना और दिल्ली में उनके शासन की स्थापना उर्दू के उद्भव का सीधा कारण है । भारत ही एक ऐसा देश नही है जहाँ स्थानीय और विदेशी भाषा के सयोग से एक कृत्रिम या बोलचाल की भाषा पैदा हुई हो । किसी सामान्य भाषा के लिए प्रयुक्त अग्रेजी शब्द 'लिग्वा फ्रैंका' वास्तव में लेवांट में व्यवहृत इटालियन, फ्रेंच, ग्रीक और स्पेनिश भाषाओ के मिश्रण का नाम है । लगभग आधी शताब्दी पहले पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के भोजपुरी लोग मारीशस द्वीप में जा बसे थे । उनकी भाषा भोजपुरी और फ्रेंच के मिश्रण से एक बिल्कुल नई क्रीओल भाषा उत्पन्न हुई है । पूर्वी अफ्रीका की स्हुआवली भाषा का उत्थान इसी तरह वहाँ के हब्शियो की बोलियो पर अरबी शब्दो के उपारोपण से हुआ । स्पेनिश और अग्रेजी के मिश्रण से दक्षिण अमरीका के उत्तर में स्थित क्यूरेकोआ द्वीप में पपिआमेन्टो भाषा का जन्म हुआ । "यह निर्धनो की भाषा है जो विदेशी भाषा नही सीख सकते किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए जिन्हे विदेशियो से किसी-न-किसी प्रकार का सम्पर्क रखना ही पडता[२] है ।"

हिन्दी उर्दू की भाँति धार्मिक भेदो के कारण भिन्न भाषाओ का जन्म कई और देशो में भी हुआ है । क्रोटियन और सरबियन वास्तव में एक ही भाषा है किन्तु जनता के धार्मिक मतभेदो के कारण उनके बाह्य रूपो में भेद उत्पन्न हो गये है । यहूदिओ की दो भाषाओ जूडेस्मो और यिड्डश का जन्म हिब्रू भाषा के क्रमश स्पेनिश और जरमन के साथ मिश्रण से हुआ ।

उर्दू भाषा के दोनो नाम, रेखता और उर्दू, महत्त्वपूर्ण है । रेखता के अर्थ है मिश्रित, और उर्दू मुगलदरबारो के लश्कर का नाम था जहाँ

१ उर्दू का उद्भव मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है इसे सुविख्यात मार्क्सवादी सैयद सज्जाद जहीर ने स्वीकार किया है । उन्होने अपनी पुस्तक उर्दू हिन्दी और हिन्दुस्तानी में दिखाया है कि किस प्रकार मुसलमानों के राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव से उर्दू का जन्म हुआ ।

२ न्यू टाइम्स मास्को नं० २—१९५० ।

विभिन्न भाषाओ का प्रयोग होता था। उर्दू भाषा के शासक-वर्ग तथा जनता के बीच सामान्य आदान-प्रदान का माध्यम होने से और मुसलमानो की धार्मिक भाषा के रूप में वृद्धि प्राप्त करने से इसमें बोलचाल के तत्त्व अधिकाधिक आते रहे किन्तु साद्यन्त यह वर्गभाषा ही रही। इस भाषा का मुसलमानो से सामान्य सम्बन्ध अस्वीकार नही किया जा सकता। यह उर्दू के सर्वोच्च लेखको ने स्वीकार किया है। इशाअल्ला ने 'दरिआए-लताफत' में इसे शाहजहानाबाद (दिल्ली) के अमीर-उमराव, शिविरानुचरो, कारीगरो, मुस्लिम शिल्पियो, खूबसूरत माशूकों, शोहदो, मुलाजमो और दासो की भाषा कहा है। यह भाषा कैसे बनी इसका उल्लेख करते हुए "दरियाए-लताफत" में ही आप लिखते हैं "यहाँ शाहजहानाबाद में खुशबयानो ने मुत्तफिक (एक राय) होकर मुतद्दद (अनेक) जबानो से अच्छे लफ्ज (शब्द) निकाले और बाज इबारतो और अल्फाज (शब्दो) में तसर्रफ (प्रयोग) करके और जबानो से अलग कर नई जबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा"

मीर अमन देहलवी ने 'बागो-बहार'[1] की भूमिका में लिखा है कि

१. उर्दू के उद्गम का जिक्र करते हुए मीर अमन ने 'बागो बहार' की भूमिका में लिखा है—"हकीकत उर्दू जबान की बुजुर्गों के मुँह से-यूँ सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओ के नजदीक चौजुगी है। उनके राजा प्रजा कदीम से यहाँ रहते थे और अपनी-अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानो का अमल हुआ। सुलतान महमूद गजनवी आया। फिर ग़ौरी और लोधी बादशाह हुए। उस आमदोरफ्त के बाअस कुछ जबानो ने हिन्दू-मुसलमानो की आमेजश पाई। आखिर अमीर तैमूर ने, जिसके घराने में अभी तक नामो-निशान-ए-सलतनत चला जाता है, हिन्दुस्तान को लिया। उसके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया। जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठा तब चारो तरफ के मुगलो से सब कौम, कदरदानी और फैजरसानी इस खान्दान-ए लासानी की सुनकर, हजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर-एक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुलफ, सवाल-जवाब करते-करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई। जब हजरत शाहजहाँ ने किला मुबारक और जामा मस्जिद और शहर-पनाह तामीर किया, तब बादशाह ने खुश होकर जशन फरमाया और शहर को अपना दारुल खलाफा बनाया, तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला का खिताब दिया।

मुगल दरबार में, विशेषकर शाहजहाँ के दरबार म, उर्दू का जन्म उस काल में हुआ जब दिल्ली नगर के शाहजहानाबाद और उर्दू-ए-मुअल्ला दोनो ही नाम[१] थे। उर्दू के सबसे बडे कोष 'फरहग ए आसफिया' की भूमिका में एक मुगल शाहजादा अरशाद गुरगानी का एक उद्धरण दिया है कि "हर कोई इसे स्वीकार करता है कि मुहावरेदार उर्दू तिमूरी (मुग़ल) शाहजादो की भाषा है और उसकी टकसाल लाल किला है। इसलिए सैयद अहमद देहलवी हमें बुलाते थे और आम लोगो की भाषा की परवा नही करते थे।" उसी भूमिका में मौलवी सैयद अहमद लिखते है, "मै इसे स्वीकार नही कर सकता कि भाषा टकसाल से बाहर की हो 'हम अपनी भाषा को ऐरे-गैरो की, लावनीबाजो घोबियो की, जाहलो की या कुछ शब्दो को इधर-उधर से इकट्ठा कर लेने की, नही बना सकते। हमे वह उर्दू भी पसन्द नही है जो भारतीय ईसाई, नये मुसलमान, खानसामे, साहबो के अरदली, शिविरानुचर, और छावनी के मिले-जुले लोग बोलते है और जिसका पुड्डू नाम रखकर मजाक उडाया जाता है।" इसी सम्बन्ध में शम्स-उल-उलेमा मौलवी मुहम्मद आजाद ने अपनी 'नज्म ए आजाद' में कहा है "उर्दू उनके वशजो की है जो वास्तव मे फारसी बोलते थे। इसी से उन्होने फारसी छन्दो, फारसी के रगीन ख्यालो और फारसी छन्द-शास्त्र के विभिन्न रूपो की ठीक-ठीक नकल की।" उर्दू में फारसी के व्याकरण के नियमो के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए अली सरदार जाफरी ने यह निर्धारित किया है कि, 'गरीब' और 'किताब' शब्दो का फारसी में बहुवचन 'गुरबा' और 'कुतुब' होता है किन्तु उर्दू में वे 'गरीबो' और किताबें या किताबो होते[२]

अमीर तैमूर के ऐहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक, पीढी-ब-पीढी सल्तनत यक्सा चली आई। निदान ज़बान-ए उर्दू मजते मजते ऐसी मजी कि शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

१. शाहजहाँ के बाद उर्दू-ए-मुअल्ला नाम दिल्ली के लालकिले और दरीबा के बीच के क्षेत्र का रह गया और कुछ समय बाद इस भाग को लोग उर्दू कहने लगे जैसा कि सन् १८५७ के विद्रोह के एक 'छत्ता' गीत की निम्न पक्ति से विदित होता है—

उर्दू लूटा दरीबा लूटा, लूटा मालीवाडा।
गुडवालो की कोठी लूटी, लूटा मन्दिर सारा॥

२. अली सरदार जाफरी : व्हाई टू लिटरेरी फार्म्स से हिन्दी एण्ड उर्दू— (इण्डियन लिटरेचर—नं० १, १९५३)

है। कोई भी ऐसा उर्दू व्याकरण नही है जो इन फारसी के बहुवचनो को अस्वीकृत करता हो—बल्कि सब ने इसकी स्वीकृति दी है। तथा कोई ऐसा उर्दू लेखक नही है जिसने फारसी के इन रूपो का अधिकाधिक व्यवहार न किया[1] हो।

उर्दू के असाम्प्रदायिक रूप के समर्थन में, तथा मुसलमानो के आगमन से उसके किसी भी सम्बन्ध के विरुद्ध, यह तर्क रखा जाता है कि उर्दू के बहुत से ख्यातिप्राप्त लेखक हिन्दू और सिख है, जबकि हिन्दी-लेखक सभी हिन्दू है। जब मुसलमान दरबारो की भाषा फारसी थी तब हिन्दुओ ने फारसी उसी सुगमता से लिखी जिस से आज वे अंग्रेजी या उर्दू लिख रहे है। अंग्रेज शासको ने उर्दू को देश के कुछ भागो में कचहरी की भाषा और शिक्षा का माध्यम बनाया और इन क्षेत्रो के सब सम्प्रदायो के लोगो को इस भाषा को सीखना पडा। सबसे अधिक पजाब में ऐसा हुआ, जिस वजह से आज के अधिकाश अमुस्लिम लेखक पजाबी है जिनकी मातृभाषा उर्दू या खडी बोली नही है।

दूसरी समस्या जो हिन्दी और उर्दू के इतिहासज्ञो को उलझन में डाल रही है यह है कि जब बोलचाल की भाषाएँ क्षेत्र से क्षेत्र में बदल सकती है, किन्तु सम्प्रदाय से सम्प्रदाय में नही, तो हिन्दू और मुसलमान भाषा के बारे में भिन्न भिन्न पसन्द कैसे रख सकते है। यह विरोधाभास उन्हे तब और भी उलझा देता है जब यह कहा जाता है कि हिन्दी और उर्दू, हिन्दू और मुसलमानो की विभिन्न भाषाएँ ही नही, उन्हे वे दो राष्ट्रो में विभाजित करती है, और पाकिस्तान बनने के बाद भी यह समस्या पूर्ववत् उलझी रही है। ऐसा सोचते हुए इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि एक राष्ट्र की सामान्य भाषा से निकली हुई उसके अन्तर्गत विभिन्न वर्गों और समूहो की अपनी अपभाषाएँ हो सकती है। दिल्ली के आसपास रहने वाले हिन्दू और मुसलमानो की सामान्य बोलचाल की भाषा खडी बोली है और अन्य क्षेत्रो में वहाँ की भाषाएँ है। बोलचाल की भाषा एक ही रूप में रहती है और वही एक भाषा समस्त समाज तथा समस्त वर्गों की सेवा करती है। यदि उस भाषा का कोई ऐसा रूप उठ खडा हो जो समाज के अन्तर्गत अकेले आदान प्रदान का साधन न हो तो वह किसी सामाजिक वर्ग की केवल 'अपभाषा' मात्र होता है। हिन्दी और उर्दू का सदा हिन्दुस्तानी भाषा के दो रूपो में उल्लेख होता है जबकि बोलचाल की भाषा एक ही रूप में विद्यमान रहती है।

---

१. अली सरदार जाफरी की अधिकाश पुस्तकें प्रकाशित करने वाला उर्दू मुद्रणभवन 'कुतुब' कहलाता है जो कि किताब का फारसी बहुवचन है।

इन दोनो विभिन्न रूपो के अस्तित्व को एक साथ स्वीकार करना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इन दोनो में से एक या दोनो ही कृत्रिम भाषाएँ हे।

यदि आधुनिक हिन्दी मुख्य भाषा स्वीकार की जाती है और उर्दू 'वर्ग-अपभाषा' तब इस तथ्य का कि उर्दू आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा बोलचाल की हिन्दुस्तानी या खडी बोली के निकटतर है, स्पष्टीकरण करना पडेगा। हिन्दी और उर्दू की शब्दावलियाँ हटा दिए जाने पर हिन्दुस्तानी समस्त उत्तरी भारत की भाषा के रूप में विस्तृत नही हो सकती किन्तु सिमट कर खडी बोली क्षेत्र की बोलचाल की भाषा भर रह जाती है। खडी बोली क्षेत्र के बाहर किस सीमा तक हिन्दुस्तानी बोलचाल के व्यवहार की भाषा है यह निम्न दो उदाहरणो से स्पष्ट हो जायगा। अप्रैल १९५१ में बिहार विधान सभा में यह प्रकट किया गया था कि हिन्दी की प्राथमिक परीक्षा में जो १३६२ सरकारी कर्मचारी बैठे थे उनमें से सब बिना अपवाद के असफल रहे। इलाहाबाद कुम्भ दुर्घटना की जाँच की रिपोर्ट में भी नामपट्टियो इत्यादि को जनता की समझ में आने वाली भाषा में लिखने की आवश्यकता पर बल दिया गया था।

उत्तरी भारत के एक बहुत बडे भाग में उर्दू मुसलमानो की[1] और उन हिन्दू श्रेणियो की जो उनके अधिक सान्निध्य में आईं, वर्ग भाषा है। इस उर्दू से खडी बोली क्षेत्र की भाषा का भ्रम न होना चाहिए, जो वस्तुतः अपने इसी रूप में अमीर खुसरो से भी पहले से अस्तित्व में है। अमीर खुसरो ने इस भाषा को समस्त उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा कभी नही माना और इसे केवल दिल्ली और उसके आसपास की भाषा कहा है। हिन्दी में अमीर खुसरो की तथाकथित रचनाओ पर बहुत-कुछ जोर दिया गया है। यद्यपि उन्हे सबने अप्रामाणिक स्वीकार किया है। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो गया है कि खुसरो की 'खालिकबारी', जिसे हिन्दी और उर्दू के इतिहासज्ञ अपनी भाषा का प्रथम वर्तमान ग्रन्थ मानते हैं, अमीर खुसरो की रचना न थी, बलिक १७वी शताब्दी के किसी ज़ियाउलद्दीन खुसरो की[2] थी। तो भी हिन्दी, उर्दू तथा अन्य भाषाओ के साथ और उनसे पहले खडी बोली विद्यमान थी। उर्दू और ब्रजभषा के उत्थान ने उसे एक 'बोली' से अधिक पनपने न दिया, यद्यपि वह राजधानी की भाषा थी।

१ 'इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी' में डॉ० सु० कु० चटर्जी लिखते है, "सरकारी समर्थन के बावजूद भी फारसीमय उर्दू एक वर्ग बोली ही है जिसे भारत का तीन चौथाई या कदाचित ४/५वा भाग समर्थन नही दे सकता।"

२ दे० 'खालिकबारी' सम्पादक प्रो० महमूद शेरवानी अजुमन ए तरक्की ए उर्दू।

बाद में हिन्दी का कृत्रिम भाषा के रूप में जन्म बहुत कुछ उर्दू ही की तरह हुआ। कभी-कभी हिन्दी का विकास बारहवी या तेरहवी शताब्दी में खोजा जाता है जब शुरू के मुस्लिम लेखक 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का व्यवहार किसी भाषा विशेष के लिए नही, किन्तु 'हिन्द' के विशेषण के रूप में तथा उत्तरी भारत की समस्त भाषाओ के लिए करते थे। किन्तु इस बात पर सबका अभिमत एक है कि साहित्यिक हिन्दी ब्रजभाषा के बाद आई। हिन्दी भाषा के इतिहासो के अनुसार रीतिकाल, जिसकी समस्त कृतियाँ ब्रजभाषा में है, सवत् १७०० से १६०० (१६४३ ई० से १८४३ ई०) तक रहा और ठीक इस के बाद खडी बोली हिन्दी का समय प्रारम्भ हो गया[1]। यद्यपि इस बात का कोई कारण नही दिया जाता कि बाद की ब्रजभाषा की रचनाओ को, जो बराबर लिखी जाती रही, हिन्दी साहित्य में क्यो स्थान नही दिया गया, किन्तु यह बहुधा स्वीकार कर लिया जाता है कि इसके पहले खडी बोली हिन्दी मे साहित्य नही था और उसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५ ई०) से[2] हुआ। इस काल में आधुनिक हिन्दी के उद्गम के बारे में दो सिद्धान्त है। पहला यह कि उसका जन्म उर्दू के समस्त फारसी-अरबी और बहुत से हिन्दुस्तानी शब्द निकाल कर उनके स्थान पर सस्कृत के तत्सम शब्द रख देने से हुआ। इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि प्रारम्भ में जो कुछ देवनागरी लिपि में छपा था वह बहुत कुछ उर्दू था जिसे बाद में उत्तरोत्तर सस्कृतमय किया जाता रहा। यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होने वाला हिन्दी का सवप्रथम समाचारपत्र देवनागरी लिपि में तो था, किन्तु उसकी भाषा उर्दू थी।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि आधुनिक हिन्दी का जन्म उर्दू या दिल्ली के आसपास की शुद्ध खडी बोली से स्वतन्त्र रूप में हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन के कारण खडी बोली समस्त हिन्दुस्तानी प्रदेशो मे तथा उसके बाहर के नगरो में फैली। पच्छिमी नगर जैसे दिल्ली और आगरा का वैभव समाप्त हो गया और लखनऊ, फैजाबाद, बनारस, पटना, मुर्शिदाबाद आदि महत्त्वपूर्ण हो गये। इसलिए दिल्ली और आसपास के नगरो के हिन्दू व्यापारी जीविका की खोज में पूर्वी नगरो में गये। वे जो खडी बोली बोलते थे वह स्वाभाविक बोली थी, मुस्लिम शासकवर्ग की 'जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' नही थी। पच्छिम के व्यापारियो की बोलचाल की भाषा ने अपना मौलिक रूप अक्षुण्ण रखा, यद्यपि स्थानीय बोलियो से उसका रूप थोडा-बहुत विकृत हो गया। ऐसी धारणा है

१ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास।
२ ब्रजरत्नदास खडी बोली हिन्दी का इतिहास।

कि यही वह खड़ी बोली थी, जो आधुनिक हिन्दी का आधार बनी, दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली नहीं।[१]

आधुनिक हिन्दी के उद्गम के बारे मे इन दोनो विचारो में कुछ सत्य है। इस तथ्य की सामान्यत उपेक्षा कर दी जाती है कि खड़ी बोली के तत्वो से उत्तरीभारत के तीर्थों और व्यापार के केन्द्रो का पहले ही से परिचय हो चुका था। इसके कारण पहले बताये जा चुके हैं। इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि उर्दू के, जो अधिकाशत हिन्दू जनसख्या के क्षेत्रों मे कचहरी की भाषा घोषित कर दी गई थी, विरुद्ध साम्प्रदायिक भावना ने भी आधुनिक हिन्दी के उद्गम मे प्रमुख भाग लिया।

उत्तरी भारत की अन्य भाषाओ से आधुनिक हिन्दी का भेद, तद्भव के स्थान पर तत्सम[२] के प्रयोग का है। एक शताब्दी से कम पहले खड़ी बोली हिन्दी की आधुनिक शब्दावली विकसित होने लगी थी और ग्रियर्सन ने इस पर कहा था कि "हिन्दी पर सस्कृत का घातक जादू चढ गया है।" उस समय तक समस्त भारतीय भाषाओ में केवल तद्भव शब्द थे जो सयुक्त व्यञ्जन और सन्धिस्वरो को निकालकर और मूर्धन्य वर्णों के स्थान पर ओष्ठ्यदंत्य और तालव्य वर्णों को प्रतिष्ठापित करते थे। "पाँच सौ वर्षों तक इन भाषाओ ने मनुष्य के मन में प्रस्फुटित होने वाले किसी भी विचार को स्फटवत् स्वच्छता से प्रकट किया। इसके प्राचीन साहित्य में उच्चकोटि का काव्य है। दर्शन और अलकारशास्त्र पर इनमें ग्रन्थ हैं जिनमें सस्कृत शब्दो का मुश्किल से ही कही व्यवहार मिलता है"।[३] हिन्दी में ऐसी शब्दावली और अभिव्यञ्जन शक्ति, जो किसी भाषा से कम न थी, रहते हुए भी सस्कृत शब्दों का व्यवहार फैशन बन गया। तत्सम की ओर यह झुकाव एक शताब्दी से कम पुराना है और इसने आधुनिक हिन्दी को केवल प्रादेशिक भाषाओ से ही नही दिल्ली के क्षेत्र के आसपास की खड़ी बोली से भी दूर कर दिया है।

हिन्दी और उर्दू के एक ही क्षेत्र में दो विभिन्न वर्गों की भाषा होने के सम्बन्ध में विवाद बड़ी सरलता से सुलझ सकता है जब यह समझ लिया जाय कि उर्दू और हिन्दी दोनो दिल्ली और उसके आसपास की सामान्य भाषा खड़ी

१ दे० हिन्दी शब्दसागर की भूमिका का० ना० प्र० सभा।

२ ग्रियर्सन "तद्भव शब्द वे है जो आधुनिक देशी भाषाओ में प्राकृत उद्गमो से आये हैं तथा तत्सम शब्द वे हैं जो आगे चलकर सस्कृत से वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उधार ले लिये गए।"

३ लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया—खण्ड ९, पृ० ५५।

बोली मे निकली हुई वर्ग अपभाषाएँ है।

खडी बोली हिन्दी के प्रादेशिक भाषाओ से सम्बन्ध का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा। इसी प्रकार हिन्दी भाषा के उचित व्यवहार, उसे समृद्ध बनाने और उसकी महान् परम्परा को आगे विस्तृत करने का विवेचन भी आगे किया जायगा। यहाँ उसकी आम बोलचाल की न होने की प्रकृति पर बल देने की आवश्यकता है। केवल सम्भाषणेतर भाषाएँ और वर्गों की अपभाषाएँ ही आधुनिक हिन्दी की तरह अकस्मात् उन्मज्जित हो सकती है। इसकी सम्भाषणेतर प्रकृति को वे लोग भी स्वीकार करते है जो इसे समस्त हिन्दी प्रदेश की मातृ भाषा मानते है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित हिन्दी-शब्दसागर में यह इगित किया गया है कि हिन्दी को आज वही स्थान प्राप्त करना है जो गुप्तकाल में सस्कृत को प्राप्त था, चाहे उस काल में सस्कृत बोलचाल की भाषाओ से कितनी ही अलग क्यो न रही हो, इसका कोई विचार नही किया गया। डॉ० रामविलास शर्मा ने स्वीकार किया है कि गाँवो मे लोग कई बोलियाँ बोलते है जो मिलाकर अवधी, ब्रजभाषा इत्यादि में वर्गीकृत की जा सकती[1] है। डा० सु० कु० चटर्जी कहते है कि खडो बोली की केवल अल्प प्रारम्भिक शब्दावली ही सामान्यत. उत्तरीभारत में 'बाजारी हिन्दुस्तानी' या 'लघु हिन्दी' के रूप में समझी जाती है और यह सास्कृतिक प्रयोजन के लिए नितान्त असमर्थ है। उनका सुझाव है कि इसको और अधिक कृत्रिम बनाकर इसके व्याकरण को सरल कर देना चाहिए और समस्त सज्ञाओ और क्रियाओ को पुल्लिग कर देना चाहिए। इससे वह हिन्दुस्तानी प्रदेश के बहुभाषी नगरो की आपसी वार्तालाप के लिए उत्तम हो जायगी।[2] एक सम्भाषणेतर भाषा ही के व्याकरणो के नियमो का इस प्रकार निर्माण किया जा सकता है। बोलचाल की भाषा के व्याकरण में तो भाषा के केवल प्रेक्षित तथ्य का सग्रह ही होता है।

मुन्शी प्रेमचन्द ने उर्दू के मुसलमानो की भाषा होने की ओर सकेत किया है[3]। उन्होने यह विचार भी व्यक्त किया है कि "हिन्दी में प्राचीन

१. रामविलास शर्मा आन दि लैंग्वेज क्वैश्चन इन इण्डिया, दि कम्यूनिस्ट सि० अ० १९५९।
२. दे. सु० कु० चटर्जी इन्डोआर्यन एण्ड हिन्दी
३ मुन्शी प्रेमचन्द ने १९१५ में अपने एक पत्र में मुन्शी दिया नारायण निगम सम्पादक 'जमाना' को लिखा था "प्रेम-पच्चीसी के हिन्दी तर्जुमे के लिए कई जगह से असरार हो रहे है। मै खुद ही इस काम को हाथ में लूँगा।

साहित्य ही कहा है । ब्रजभाषा अवधी का साहित्य हिन्दी-साहित्य नही है ।[१]" ब्रजभाषा, अवधी तथा अन्य भाषाएँ इतनी शीघ्रता से समाप्त नही हो सकती थी जितनी शीघ्रता से हिन्दी अस्तित्व में आई । इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास इसके बोलचाल की भाषा न होने को मान्यता देता रहा है । श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में और ब्रजरत्नदास ने 'खडी बोली का इतिहास' मे लिखा है कि प्रारम्भ में खडी बोली हिन्दी को ठीक तरह से मुन्शी सदासुखलाल, इशाअल्लाखाँ लल्लूलाल और सदल मिश्र ने १८०१ ई० के लगभग फोर्ट विलियम मे बनाया, यद्यपि दोनो ने यह स्पष्ट किया है कि यह अग्रेजो के प्रभाव से नही हुआ था । उपर्युक्त चारो व्यक्तियो की रचनाओ पर आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू तथा कुछ प्रादेशिक भाषाएँ अधिक दावा करती है । इसी काल में विलियम कैरी द्वारा बाइबिल का सस्कृतमयी हिन्दी मे अनुवाद किये जाने की ओर भी सकेत किया गया है। इसके बाद कहा जाता है कि हिन्दी में १८०३ से १८५८[२] ई० तक वस्तुत शून्यता रही और भारतेन्दु काल में इसका वास्तविक प्रारम्भ हुआ । हिन्दी कविता ने अपना रूप निर्धारित करने में और अधिक समय लगाया । इस शताब्दी के प्रारम्भ से आरम्भ होकर उसने काव्य की भाषा के रूप मे ब्रजभाषा का स्थान लेने में दो दशाब्दियो से अधिक समय लिया ।

इन तथ्यो से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक हिन्दी एक बोल-चाल की भाषा नही है और हिन्दी क्षेत्र में बोलचाल की भाषाएँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए है । उनका अपना स्वतन्त्र साहित्य है, यद्यपि वह हिन्दी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत अब नही रखा जाता, जैसा आधु-निक हिन्दी काल के पूर्व किया जाता था । आधुनिक हिन्दी के कृत्रिम रूप को न स्वीकार करने से और उसे समस्त हिन्दी क्षेत्र की बोलचालकी भाषा समझने से हम इस महान् परम्परा के महत्त्व और उसकी सम्भावनाओ की ओर से आँखें मूँद लेते है । ससार में कही भी किसी विभिन्न-भाषी जनता को ऐसी एकी-करण करने वाली शक्ति नही मिली । यह आवश्यक नही, कि ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली, मागधी बोलने वालो को सम्पूर्ण रूप से आधुनिक अर्थ में राष्ट्र स्वीकार कर लिया जाय या इन भाषाओ को

अब हिन्दी लिखने की मश्क कर रहा हूँ । उर्दू में अब गुजर नहीं है··· उर्दू-नवीसी में किस हिन्दू को फैज हुआ जो मुझे हो ।"

१. 'खड़ी बोली हिन्दी के इतिहास में' ब्रजरत्नदास द्वारा उद्धृत ।

२ ब्रजरत्नदास—खड़ी बोली हिन्दी का इतिहास ।

पूर्ण रूप से विकसित राष्ट्र भाषाएँ माना जाय। किन्तु ये करोडो लोगो की मातृभाषा के रूप में वर्तमान है और इनके अस्तित्व को किसी ने कभी अस्वीकार नही किया। हिन्दी को बोलचाल की और समस्त हिन्दी-प्रदेशो की मातृभाषा के रूप में मानना भूल होगी।

हमारे इतिहास की विशेषताओ ने हिन्दी (खडी बोली) को ऐसी भाषा बनाया है जिसके अनेक तत्व बोलचाल की भाषाओ के ऊपर, बिना उनको हानि पहुँचाये, प्रभाव डालते रहे हैं। यदि ऐसा अन्य कही नही हुआ तो इस-लिए कि हिन्दी को आधुनिक स्थिति में लाने वाले कारण हमारे देश की विशेषता थे। आधुनिक हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ का सह-अस्तित्व और बन्धुतापूर्ण आदान-प्रदान हिन्दी क्षेत्र की जनता की सास्कृतिक आवश्यकता है। इसके बिना स्वय हिन्दी मुरझा और सूख-सड जायगी।

अध्याय ६

हिन्दी और कुछ विदेशी भाषाएँ—समता और भिन्नता

यूरोप तथा अन्य देशो के भाषा सम्बन्धी इतिहास से बहुधा यह स्थापित करने के लिये सादृश्य-प्रमाण खोजे जाते है कि आधुनिक हिन्दी साधारणत उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा के रूप मे विकसित हुई और उसकी विभिन्न बोलियाँ या तो लोप हो गईं या लोप होने की अवस्था में है। इस सम्बन्ध में इस बात पर कम विचार किया जाता है कि ये सादृश्य-प्रमाण विभिन्न लोगो की भौतिक और सास्कृतिक विशिष्टता समझे बिना ही दिये जा रहे है। इससे भी अधिक हानिकारक बात यह है कि ये सादृश्य-प्रमाण प्राय पूर्ण ज्ञान पर आधारित नही होते अथवा किसी विशिष्ट तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए कल्पित तर्क मात्र होते है।

बहुधा अगरेजी भाषा का सादृश्य-प्रमाण दिया जाता है और यह कहा जाता है कि अगरेजी ने वेल्श और केल्टिक भाषाओ तक को दबा दिया और इस प्रकार ब्रिटिश द्वीपो की बोलियो का निराकरण कर देने के कारण लन्दन के आसपास की बोली समस्त देश की राष्ट्रभाषा बन गई। ब्रिटेन में भाषा सम्बन्धी उद्गम के आधारभूत सिद्धान्तो पर विचार किये बिना ही इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि क्या अगरेज़ी ने वास्तव में वेल्श और केल्टिक को मिटा दिया। इसका व्यवहार करने वालो को सख्या यद्यपि बहुत थोडी है फिर भी उनका विशिष्ट अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से चला आता है।

यह स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि ब्रिटेन की वैल्श आदि भाषाएँ केवल प्रचलित और जीवित ही नही हैं किन्तु इधर वर्षो से अत्यन्त तीव्रगति से अपने को समृद्ध भी बना रही है। टाइम्स (लन्दन) में हाल ही में प्रकाशित "टू लिटरेचर्स आफ वेल्स" के तुलनात्मक सिहावलोकन में यह निर्देशित किया गया है कि वेल्शभाषा में साहित्य का महान् भण्डार विद्यमान है। एग्लो-वेल्श लेखको की अपेक्षा इसमें वेल्श लेखक अपना अशदान

कही अधिक दे रहे है ।[1]

यह एक आश्चर्य की बात मानी जाती है कि ग्रेटब्रिटेन सरीखे छोटे से द्वीप में, जिसकी जनसख्या केवल ४ करोड हो, बीस लाख वेल्श लोगो का एक छोटा सा प्रदेश भी वर्तमान हो, जिसकी अपनी भाषा हो और जो अगरेजी से भिन्न और असम्बन्धित हो ।[2] इस भाषा को उखाडने और मिटा देने के लिए वेल्श जनता को उखाडने और मिटाने के नृशस प्रयास किये गए, किन्तु कोई परिणाम नही निकला । एक शताब्दी पूर्व जब इगलैण्ड ने वेल्स लोगो पर आर्थिक आधिपत्य प्रारम्भ किया तब कठिनता से ही कोई वेल्स-निवासी अगरेजी बोल सकता था । किन्तु अब आधे वेल्स-निवासी अपनी मातृभाषा नही बोल सकते । ब्रिटिश सरकार ने वेल्स जाति को मिटाने के लिए नृशस कार्रवाइयाँ की । इसका उदाहरण देते हुए वाइन ग्रिफिथ लिखते हैं "(दो महायुद्धो के बीच) जब हम सब पर महामन्दी के दिन आये तब सरकार ने आर्थिक कष्टो को दूर करने के लिए देश के २,५०,००० नवयुवको को वहाँ से हटाकर ले जाने का निश्चय किया । इस पर विश्वास करना कठिन है, क्योकि यह सख्या वेल्स-सरीखी छोटी जाति की आधी युवक सख्या है, किन्तु ऐसा हुआ ।" वाइन ग्रिफिथ पुन कहते[3] है—"देश में जब इस प्रकार जीवन-शक्ति का ह्रास हो रहा था, तब कुछ लोगो की समझ में यह बात आई कि यथार्थ रूप मे प्रथम विनाश तो उस विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना का होगा जो वेल्श भाषा में निहित है । यदि ऐसा हो गया तो बाकी सब कुछ बहुत शीघ्र जाता रहेगा । राज्य की दृष्टि में वेल्स एक जाति न थी किन्तु एक लम्बी सूची के नीचे काउटियो का समूह था जिनका कोई महत्त्व न था और जो प्रशासन के लिए असुविधाजनक थी' 'वेल्स प्रदेश निर्जीव और महत्त्वहीन होता जा रहा था । तिस पर भी वेल्स में ऐसे कवि हुए, जैसे शताब्दियो से देश में उत्पन्न नही हुए थे, ऐसे उत्तम कहानी-लेखक जैसे पहले कदाचित् ही हुए हो तथा भाषा और उसके साहित्य के ऐसे उत्तम विद्वानो का अविर्भाव हुआ, जैसा पहले कभी नही हुआ था । महान् साहित्य सृष्टि हुई और उसका विस्तृत प्रभाव पडा । लिखित भाषा में एक नवीन चमक आई और वह हर प्रकार के विषयो को ग्रहण करने के लिए अग्रसर हुई ।"

इसी प्रकार आयरिश भाषा को मिटा देने के समस्त प्रयास निष्फल रहे,

---

१ टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट, लन्दन, ५ अगस्त, १९५५ ।

२ वाइन ग्रिफिथ : दि वायस आव वेल्स—ब्रिटिश कौन्सिल ।

३ वाइन ग्रिफिथ : दि वैल्श—(पेंगुइन बुक्स, लन्दन) ।

यद्यपि आज वह आयरलैण्ड की २० प्रतिशत जनता द्वारा ही बोलचाल के काम में आती है। १८४० में आयरलैण्ड की जनसख्या ७० लाख थी। १८४४-४६ के ब्रिटिश कृत दुर्भिक्ष में ४० लाख से अधिक व्यक्ति मर गये। उसके बाद की आठ दशाब्दियो में ३० लाख देश छोडकर चले गए। इसके अतिरिक्त उन पर अगरेजी भाषा जबरदस्ती लादी गई और भूमि पर अधिकार जमाने के लिए अंग्रेजो के झुण्ड-के-झुण्ड आये। इन सब बातो के बावजूद भी यदि आज आयरिश भाषा और आयरिश राष्ट्रीयता जीवित है तो इससे यह सिद्ध होता है कि किसी जन-भाषा का मिटाना कितना कठिन है। इस सम्बन्ध मे प्रो० कुकरिन का मत है

"१८४१ में साढे साठ लाख की जनसख्या और प्रथम विश्वमहायुद्ध के पूर्व केवल तीस लाख आयरिश, आकडो की यह भयानक कहानी है—ऐसी कहानी जिसमें धीरे-धीरे परिसमाप्ति और बलपूर्वक उत्प्रवासन ऐसे पैमाने पर किया जाता है जैसा पिछली शताब्दी में किसी यूरोपीय देश में नही हुआ। आयरलैण्ड की जनसख्या के अक अब स्थायी हो गये हैं, उत्प्रवासन और मन्थर मृत्यु बन्द हो गई है और राष्ट्र ने अभी हाल मे अपनी जीवनशक्ति पुन प्राप्त करना प्रारम्भ किया है। आयरिश बुद्धिजीवी अब अपनी भाषा अपनाने लगे हैं। पुस्तके और समाचारपत्रो के कुछ भाग वहाँ की 'इरसे' भाषा में तथा सरकारी प्रलेख, दोनो (इरसे और अंग्रेजी) भाषाओ में, प्रकाशित होते है।"[1]

जहाँ कही शताब्दियो के प्रयास द्वारा एक भाषा को मिटाने में सफलता भी हुई, वहाँ की जनता ने साधारणतः अपनी आत्मसमृति और अलगाव की भावना का समर्पण नही किया। ब्रिटिश द्वीप की स्काच-गेलिक भाषा वस्तुत मिट चुकी है किन्तु स्काटो की राष्ट्रीयता का सघर्ष नही समाप्त हुआ। कुछ वर्ष हुए ब्रिटिश सिहासन के नीचे से "स्टोन आव डेस्टनी" (विधि-प्रस्तर) की नाटकीय चोरी ने इस बात की ओर ससार का ध्यान आकर्षित किया था। डॉ० जान मेक्कौमिक ने स्कॉटलैण्ड में 'स्कॉटिश राष्ट्रीय आन्दोलन' के प्रभाव की ओर ध्यान खीचा है।"[2] 'स्कॉट रेनेसा' के सम्बन्ध में श्री रिश केडलर लिखते हैं

"स्कॉटो के पुनरुत्थान की 'स्कॉटिश प्रमाणपत्र' अद्भुत अभिव्यक्ति है।

१. दि इमरल्ड आइलस—न्यू टाइम्स, मास्को—२२ सितम्बर, १९५५।

२ डॉ० जान मेक्कौमिक : दि फलैग इन दि विन्ड दि स्टोरी आव दि नेशनल मूवमेंट इन स्काटलैण्ड—गोलांस १९५५।

इस पर स्कॉटलैण्ड के आधे वोटरो ने हस्ताक्षर किये हैं। यह एक ऐसी बात है जो उपेक्षित नही की जा सकती'' स्काटलैंड निवासी बहुत अभिमान से सास्कृतिक क्षेत्र में 'नवजागरण की ओर इगित करते हैं'।[1]

यह पहले ही देखा जा चुका है कि अँगरेजी भाषा की अन्य बोलियो का स्थान लन्दन की बोली ने नही लिया। कुछ शताब्दियो तक लन्दन सब बोलियो के क्षेत्रो के लोगो को चूसता रहा और फिर उसने एक ऐसे मूषा का काम किया जिसमें ये बोलियाँ परस्पर घुलमिल गईं और ऐतिहासिक रूप से अगरेजी भाषा का उद्‌गम हुआ। ऊपर वेल्श, आयरिश और गेलिक भाषाओ के उल्लेख से यह निर्देशित होता है कि जहाँ किसी कारण एक बोली या भाषा इस प्रकार घुलमिल नही सकती वहाँ वह अलग विकसित होती रही और मिटाने के समस्त प्रयासो का प्रतिरोध करती रही है। अगर कही ये प्रयास सफल हो जाते हैं, तो भी वहाँ की जनता अपनी भिन्न सत्ता बनाये रखती है। अमरीकन-अगरेजी की 'गुल्ला' बोली के अध्ययन से पता चलेगा कि इसके बोलने वाले दास नीग्रो अमरीका लाये जाने के दो शताब्दियो पश्चात्, अपनी मूल बोली बिलकुल भूल जाने पर भी, पूर्वजो की अफ्रीकन भाषा के व्याकरणो के रूपो, जैसे वाक्य में क्रिया का न होना आदि, का व्यवहार करते रहते हैं।[2]

कई समाजशास्त्रियो ने यह दिखाया है कि अमरीकन आवासी अगरेजी के पक्ष में अपनी भाषा छोडने पर अपने आपको पराया-पराया और उखडा-उखडा सा अनुभव करते है।[3] बर्नार्ड शॉ का प्रसिद्ध कथन कि अगरेजी भाषा अगरेजो और अमरीकनो को अलग करती है केवल व्यग्य ही नही है। अपनी पुस्तक 'अमेरिकन इन टू इगलिश' की भूमिका मे श्री कैरे[4] ने बताया है कि कैसे अमरीकनो की सैकडो पुस्तको के प्रूफ ठीक करने का काम करते हुए उन्होने चालू अमरीकन शब्दावली का सग्रह और विश्लेषण किया है जिसे परिवर्तन करना पडा ताकि वे अगरेजी मे विचित्र न लगे। अमरीकनो और अगरेजो के बीच आजकल सब प्रकार के घनिष्ठ सम्बन्धो के होते हुए भी यदि उनकी भाषाएँ दो शताब्दियो मे अलग हो सकती है तो इसमे कोई आश्चर्य नही कि हिन्दुस्तानी या हिन्दी-क्षेत्र के लोगो की भाषाये भी, जो सहस्राब्दियो से वर्त्तमान हैं, अपने-अपने प्रदेशो में स्वभावानुसार बढती रही हैं।

१. न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन लन्दन, मार्च १७, १९५१।
२ एल० डी० टर्नर अफ्रीकेनिज्म इन दि गुल्ला डायलैक्ट।
३ दे०, आस्कर हेण्डलिन दि अपरूटेड, कार्ल सेण्डवर्ग : दि लोनली क्राउड।
४ स्टीफेन स्पेंडर की 'दि मेकिंग आव ए पोयम' से उद्‌धृत।

आधुनिक हिन्दी की तुलना रूसी भाषा से करना भी गलत है। हिन्दी प्रदेश की जनता और भाषा की तुलना स्लावोनिक जनता और भाषा से करना ठीक होगा। बहुतसी स्लावोनिक बोलिया जो आज सर्वथा अलग भाषा स्वीकार की जा रही है, कुछ दशाब्दियो पूर्व केवल बोलियाँ ही मानी जाती थी और उनका भविष्य अन्धकारपूर्ण समझा जाता था। रूसी क्राति के पूर्व, केवल जार सरकार ही नही किन्तु समस्त स्लेव देशो का शासक-वर्ग एक स्लेव राष्ट्र मे विश्वास रखता था और उसकी पूर्ति के लिए सक्रिय कार्य करता रहता था तथा बारम्बार समस्त स्लावोनिक जाति समुदाय के 'राष्ट्र' के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पर जोर देता रहता था। बहुत सी स्लाव भाषाएँ अस्तित्वहीन समझी जाती थी। इनमें दो करोड जनता द्वारा बोली जाने वाली रूथेनियम भाषा भी सम्मिलित थी। १८७२ में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ टोमिशेक ने लिखा था "यूरोप में हम स्लेव सबसे अधिक शक्तिशाली है हमारे लिए सबसे अधिक आवश्यकता एक सामान्य भाषा की है।"[1] एक के बाद दूसरी स्लावोनिक महासभा ने समस्त स्लेव ससार के लिए किसी स्लावोनिक बोली को एक सामान्य भाषा के लिए चुनने की आवश्यकता पर अपना विश्वास 'निश्चय-पूर्वक घोषित' किया था। विभिन्न स्लाव भाषाओ के कोषो का परीक्षण उन्हे केवल बोलियाँ प्रमाणित करने के लिए किया गया। वे उनमें आश्चर्यजनक सादृश्य भी 'प्रमाणित' कर सके। इनमें बहुत सी भाषाएँ प्रथम विश्व महायुद्ध तक अपना स्थान तक प्राप्त नही कर पाई थी और कुछ भाषाएँ रूसी क्राति तक इतनी प्रसुप्तावस्था में थी कि सोवियत सरकार पर उन्हे खोदकर निकालने का दोषारोपण किया गया था। इस बात पर जोर देते हुए कि वेलिकीरुसी (महान् रूसी), यूक्रेनियन और बाइलोरूसी भाषा और सस्कृति सजातीय है और उनका उद्गम सामान्य है, सोवियत सरकार ने इस पर आग्रह किया कि उन्हे अविभिन्न समझने की भूल न की जाय।[2] इसी सजातीयता के आधार पर उत्तरी भारत की भाषायें एक समझी जा रही है। हिन्दी प्रदेश की भाषाओ में भी स्लाव भाषाओ के समान परस्पर गहरा सादृश्य है और १९१७ के पूर्व बहुतेरी स्लावभाषाओ के समान, उनमें भी कई प्रसुप्तावस्था में हैं, किन्तु वे अवश्य फूले फलेगी। स्लाव-जनता की अपेक्षा उत्तरी भारत की जनता को एक लाभ यह है कि अपनी बोलचाल की भाषाओ

१. कार्ल एबल . लिंग्विस्टिक एसेज।

२. दे० हिस्टरी आव यू०एस० एस० आर०, भाग १. फारेन लेंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को।

के अतिरिक्त उनके ऊपर फैली हुई उन्हे एक सम्भाषणेतर भाषा हिन्दी भी मिली है जो कुछ शताब्दियो के क्रम द्वारा एक सामान्य बोलचाल की भाषा का विकास और देशो की अपेक्षा सरल कर देगी।

आधुनिक हिन्दी रूसी भाषा की अपेक्षा 'चर्च स्लावोनिक' के अधिक समान प्रतीत होती है। 'चर्च स्लावोनिक' और रूसी भाषा दोनो का जन्म 'प्राचीन बल्गेरियन' से हुआ था जो बोल्गा नदी की उपजातियो द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ के सदृश थी।[1] रूसी भाषा जनता की समृद्ध भिन्न-भिन्न भाषाओ द्वारा प्रभावित होती रही और, जैसा कि कई भाषाओ के साथ हुआ, कभी भी जनभाषाओ और बोलियो से पृथक् नही हुई। इसके विपरीत 'चर्च स्लावोनिक' ने जनसाधारण की बोलियो से अपने को अलग कर लिया। जितनी अधिक वह केवल चर्च सेवाओ के काम मे लाई गई उतनी ही वह जनता की भाषा से अलग होती गई। विश्वविद्यालय के कीव से मास्को चले जाने के पश्चात् रूसी भाषा तेजी से विकसित होने लगी। १८वी शताब्दी में वह साहित्यिक भाषा के रूप में आगे आने लगी और उसने पहले की आडम्बरपूर्ण पुस्तकी भाषा चर्च स्लावोनिक को, जो बहुत कुछ हमारी उच्च हिन्दी के समान थी, बिलकुल परे ढकेल दिया।

रूसी क्रांति के पूर्व भी कुछ रूसी तथा अन्य लेखक ऐसे थे जो अपनी मातृभाषा में न लिखकर 'चर्च स्लावोनिक' भाषा में लिखते थे। दो-तीन शताब्दियो पूर्व अधिकाश अंग्रेज लेखक लेटिन या फ्रेंच में लिखते थे। यद्यपि शताब्दियो तक पुर्तगाली भाषा में लिखे गये 'रोमेन्सीरो' गीत दक्षिण-पश्चिम यूरोप में जनप्रिय रहे, किन्तु अभी कुछ समय तक वह 'स्पेन की लेटिन' की एक शाखा ही मानी जाती रही थी। १९वी शताब्दी तक प्रसिद्ध पुर्तगाली लेखक स्पेनिश भाषा ही में लिखते थे और जोर्गे दे मुतिमार तथा मानोल द मेलो सरीखे कुछ लेखको ने उस भाषा में सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ की है जो स्पेनी भाषा मे प्रतिष्ठित कृतियाँ मानी जाती है। इसी प्रकार यदि आज के हिन्दी लेखक ऐसी भाषा में लिखते है जो उनकी बोलचाल की भाषा नही है तो उसका यह तात्पर्य नही है कि उनकी मातृभाषा का स्थान हिन्दी ने ले लिया है।

फ्रेंच भाषा द्वारा प्रुवन्कैल का स्थान लेने की ओर भी सकेत किया जाता है। बहुत से लोग इसे स्वीकार नही करते है कि प्रुवन्कैल भाषा बिलकुल लोप हो गई है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यदि किसी हद तक प्रुवन्कैल भाषा का स्थान लेने में फ्रेंच भाषा सफल हुई है तो इसका

१. अन्ना एच० सेमोयनाफ ए न्यू रशियन ग्रामर।

कारण यह नही कि पेरिस की बोली का समस्त फ्रास की भाषा के रूप में प्रादुर्भाव हुआ था। ग्यारहवी और बारहवी शताब्दियो में प्रुवन्कैल भाषा ईसाई धर्म में मानवतावाद और रूढि-विरोध की महान् भाषा के रूप में दूर-दूर तक फैल गई थी। इन अलबीजेनसियन, वाल्डेन्सियन और समान मानवतावादी सामन्त-विरोधी 'नास्तिको' के विरुद्ध 'धर्म युद्ध' निरन्तर चलते रहे। उत्तरी फ्रास की सेनाएँ बारम्बार उन पर धावा करती रही और १२०९ और १२४४[1] के क्रूसेड—जिहाद—में समस्त प्रदेश उजाड कर दिया गया। यदि खडी बोली हिन्दी को सचमुच प्रादेशिक भाषाओ का स्थान लेना है तो उसके लिए भी ऐसे 'जिहाद' करने आवश्यक होगे।

पिछले वर्षो मे, दक्षिण-पच्छिम फ्रास की बोलियो में, जिनकी प्रुवन्कैल पूर्वज थी, उच्चकोटि की युद्ध-विरोधी और प्रगतिवादी काव्य-रचना हुई है। इसी तरह पिछली कुछ दशाब्दियो से यहूदियो की भाषा यिड्डिश ने साहित्य की ओजस्वी भाषा के रूप में जन्म लिया है। यिड्डिश के साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो जाने पर नाथन आसबेल ने लिखा है "यिड्डिश ने (यहूदी) जनता के दैनिक व्यवहार में आनेवाली भाषा के रूप मे सेवा की है। वह सामान्य व्यवहार में तथा क्रय और बिक्रय के लिए पर्याप्त अच्छी, किन्तु साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त हीन समझी जाती थी। उस महान् प्रयोजन के लिए केवल पवित्र हिब्रू ही उपयुक्त थी। अभी तक यहूदी साहित्य एक मध्यवर्गीय आन्दोलन था। हिब्रू के विद्वानो की सुन्दर साहित्यिक कृतियो का विचार करते हुए भी यह कहना पडता है कि उन्होने वैसी ही बौद्धिक हेकडी का प्रमाण दिया जिसके कारण आज उच्च वर्ग के हिन्दू देशी हिन्दुस्तानी में नही सस्कृतमयी भाषा में लिख रहे हैं हिब्रू के विद्वानो ने यिड्डिश को, सुनने मे भद्दी अपभाषा कहकर और यहूदियो के पिछडेपन और अपमानजनक स्थिति की दुखद स्मृति की प्रतीक बताकर तिरस्कृत किया। भाग्यवश उसी काल में अन्य तथा अधिक शक्तिशाली ऐतिहासिक शक्तियाँ उभर रही थी। निरकुश राज्य के विरुद्ध क्रातिमय सघर्ष, एक विशाल यहूदी श्रमिक श्रेणी का उत्थान और निम्न मध्यवर्गों की बेकारी तथा सर्वग्राही दरिद्रता—ये सब यिड्डिश भाषा में नवजागृति के लिए अनुकूल प्रेरक कारण हुए।[2]

पच्छिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में छ करोड से ऊपर जनता की

१. दे० सिडनी फिकलिस्टीन : हाऊ म्यूजिक एक्सप्रेसेस आइडियाज : इण्टरनेशनल पब्लिशिंग, न्यूयार्क।

२ दि लैंग्वेज आव शोलेम अलीकेम—दि न्यू मासेज न्यूयार्क २६ नवम्बर, १९४६

अरबी भाषा में आधे दर्जन से अधिक बोलियाँ है जिनमे हिन्दी की बोलियो की अपेक्षा परस्पर कम भेद हैं। इसका कारण उन पर कुरान की अरबी का गहन प्रभाव है, जो शताब्दियो से अरबी जनता पर उनके धार्मिक जीवन की अनिवार्य भाषा के रूप में पडता रहा है। इस पर भी अरबी की ये बोलियाँ भिन्न भाषाएँ और उनके बोलने वाले भिन्न राष्ट्र माने जाते है।

कुछ लोग आधुनिक हिन्दी के बोलचाल के स्वरूप का समर्थन चीनी भाषा के साहृश्य से करते है। कहा जाता है कि भारत के समान चीन में भी 'एशियायी सामन्ती समाज' था और हिन्दी क्षेत्र की समस्त जनता के लिए हिन्दी 'मातृ भाषा' के रूप में वैसे ही विकसित हुई जैसे मण्डारिन भाषा ने समस्त हान जाति की, जो चीन की जनसख्या का १५।१६वा भाग है, मातृभाषा का रूप धारण किया।

प्रथम, अब यह तथ्य प्रकाश में आ रहा है कि चीनी सामन्त-व्यवस्था एशिया और यूरोप की अपेक्षा कही अधिक उच्च औद्योगिक स्तर पर थी। आधुनिक यूरोप के निर्माण मे चीनी उपकरणो और प्रविधियो के अशदान का पहले उल्लेख किया जा चुका है। भारतीय और चीनी सभ्यता का भेद ह्वानसाग के अन्तिम प्रवचन से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होने भारत से जाने के पूर्व नालन्दा के भिक्षुओ को दिया था। इसकी ओर सकेत करते हुए ग्राडसेट कहते है "इस वक्तुता में कैसे उल्लास से चीनी सूक्ष्मता, वैज्ञानिक भावना और विन्यास की भारत की राजनीतिक अक्षमता और दाम्भिक उदासीनता से तुलना की गई है।[1]

चीनी और भारतीय जनता की तुलना करते हुए श्रीमती केनेथ स्कॉट लाटूरेश लिखती है . "जाति के समस्त रूपान्तरो के रहते हुए भी चीनी जनता का महान् समूह शारीरिक दिखावट और सस्कृति में असाधारण रूप से सजातीय है। ये भेद न इतने सुस्पष्ट है और न इतने अनेक जितने पच्छिमी यूरोप, 'निकट-पूर्व' या भारत में है। सम्भवतः सारूप्य की ओर प्रवृत्ति मुख्यत उस शासन और सस्कृति के रूप के कारण हैं जिसमें चीनी जनता रही है। साम्राज्य के राजनीतिक ढाचे ने लोगो को एक सास्कृतिक इकाई में सघटित कर दिया था क्योकि वह एक ऐसे परम्परानिष्ठ अधिकारीतन्त्र द्वारा बनाया जाता था जो सदा इस निष्ठा का सचार करता रहता था और इस तरह देश को सास्कृतिक ऐक्य की ओर बढाता रहता था। राजनीतिक एकता के कारण साम्राज्य में जनता के गमनागमन में कोई रोक-टोक न रही।

१. जे० नीढम द्वारा साइस एण्ड सिविलिजेशन इन चाइना-भाग १, से उद्धृत।

इनमें से कुछ राज्य द्वारा आयोजित होते थे—जैसे चिन्ह और हान के अन्तर्गत विस्तृत उपनिवेशन और बलात् प्रवसन। अन्य पूर्णत स्वैच्छिक होते थे और बहुधा विशाल दुर्भिक्षो के समय मे होते थे, जब सहस्रो शरणार्थी अपने पुराने घरो को छोडकर आहार की खोज में भाग निकलते थे। सुस्पष्ट वर्णभेद का अभाव था और शक्तिशाली अधिकारीवर्ग की भरती जन्म पर आधारित न होकर जन-पद-सेवा परीक्षा द्वारा प्रकट योग्यता के आधार पर होती थी, जिसने बहुत कुछ परिवर्तनशील समाज के सृजन में सहायता दी, जिसमें विस्तृत अन्तरविवाह अपेक्षाकृत सरल थे। प्राचीन रीति कि कोई भी अपने कुल-नाम की वधू से विवाह न कर सकेगा, इसी दिशा की ओर प्रवर्तन था। विजेताओ को पर्याप्त शीघ्रता से आत्मसात् कर लिया जाता था। भारत में इसके बिलकुल विपरीत दशा थी जहा वर्णसीमाएँ जातियो को अलग रखने में और उत्तरोत्तर आक्रमणो के प्रवाहो में रक्त-भेद परिरक्षित रखने में सचेष्ट थी। अपने इतिहास के अधिकाश भाग में चीन की राजनीतिक एकता और साम्राज्य के अन्तर्गत प्रवसन के लिए आन्तरिक राजनीतिक बाधाओ के अभाव ने एकरूपता प्रदान की, जिससे कि यूरोप वचित रहा। परिणामत चीनियो के बराबर सख्या में मानवजाति का कोई भी भाग कही उनके समान सजातित्व का विकास नही कर सका।"[1]

दूसरे, चीनी भाषा समस्त चीनी या हान जनता की, जिसकी यह राष्ट्र-भाषा है, बोलचाल की भाषा या मातृभाषा नही मानी जाती। चीनी भाषा और सस्कृति पर लिखी गई प्रत्येक कृति, चीन के विभिन्न भागो में सुस्पष्ट भाषा-सम्बन्धी भेद का संकेत करती है।[2] दक्षिण के क्वानटु ग प्रान्त से, जहाँ केन्टनी और सुदूर अन्दर हक्का बोलियाँ बोली जाती है, आरम्भ कर और उत्तर की ओर चलकर हमें क्रमश निम्न बोलियाँ मिलती है—स्वाटाउ, अमोय, फूचाउ, वेनचाउ, निगपो और वू। आगे उत्तर में मण्डारिन (क्योयू अर्थात् सरकारी भाषा) की भी कई बोलियाँ है जिसका पैंकिग की बोली अब प्रामाणिक रूप है। चीन में बोलियो के भेद पर जे० नीढम का विचार है—

"चीन के मानव भूगोल का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में परस्पर समझ में न आने वाली अनेक बोलियाँ बोली

१ केनिथ चकाट लेटुरेश : दि चाइनीज, देयर कल्चर एण्ड हिस्ट्री।

२ डे०, सी० पी० फिटजग्रेल्ड चाइना ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, मार्शल ग्रानेट : चाइनीज् सिविलिजेशन, प्रो० गाइल्स · चाइना एण्ड दि चाइनीज, और वाल्टर सी० हिल्लर . दी चाइनीज लैंग्वेज एण्ड हाऊ टू लर्न इट।

जाती है। उदाहरण के लिए कूकिन, फूचाउ और अमोय नगरो के दोनो मुख्य भागो की अपनी-अपनी बोलियाँ है· इस प्रकार चेकियाग में कई प्रकार की वू बोलियाँ है, फूकिंग में और बहुतेरी है, फिर तट के किनारे केन्टनी है, जो सब क्योयू से भिन्न है।"[1]

चीन की भाषाओ का उल्लेख करते हुए वाल्टर सी० हिल्लर लिखते है "इस स्थान पर यह बताना उचित होगा कि चीन जो अपने दीर्घ इतिहास में कई बार छोटे-छोटे राज्यो में विभाजित होता रहा है, ऐसा देश नही जिसमें प्रादेशिक भेदो के साथ एक ही भाषा बोली जाती हो। इसके विपरीत लगभग आठ पूरी तरह निरूपित उपभाषाएँ है।[2]

चीन के कुछ भागो में बोलचाल की भाषाओ का चीनी राष्ट्रभाषा से भिन्न होने का तथ्य अन्य स्थानो की अपेक्षा चीन में कम महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण चीनी भाषा और बोलियो का अनोखापन है तथा उनकी एकरूप वर्णमाला-विहीन चित्रलिपि है जिसमे ये सब लिखी जाती है। चीन की समस्त भाषाएँ (१) एक अक्षरी है, अर्थात् प्रत्येक शब्द के लिए एक अक्षर होता है और पीकिंग की स्थानीय भाषा के शब्दो या अक्षरो की सख्या केवल ४२५ है, (२) वे शब्दो के अलग व्याकरणीय रूपो में वहन करने में अत्यन्त अक्षम है। इससे बहुत से व्याकरणीय तत्वो का, जो अन्यत्र व्याकरणीय भेदो को उत्पन्न करते है, उदात और अनुदात आदि द्वारा प्रतिस्थापन हुआ और जो शताब्दियो के प्रवाह के साथ निरन्तर बढते गये—केन्टनी उपभाषा में इनकी सख्या आठ हो गई है। इससे व्याकरण की जटिलता मे कमी आ गई जो अन्यत्र भाषा सम्बन्धी भिन्नता का सृजन करती है। सज्ञा के लिए व्यवहृत चित्रलिपि, सन्दर्भ के अनुसार क्रिया, विशेषण अथवा क्रियाविशेषण की व्याख्या करने में भी पूर्णत समर्थ होती है। व्याकरण की ऐसी युक्तियाँ जैसे क्रियाओ का पुरुष और वचन के अनुसार अनुबद्ध होना, इस भाषा में नही है। चीनीलिपि की विशेष प्रकृति, जो वर्णमालाबद्ध न होकर चित्रलिपिक है, पिछले तीन सहस्र

१ जे० नीढम साइस एण्ड सिविलिजेशन इन चायना–भाग १।

इसी सम्बन्ध में प्रो० गाइल्स लिखते है 'वहाँ (चीन में) आठ पूरी तरह विकसित उपभाषाएँ है जो एक ही जाति की होने पर भी इतनी भिन्न है कि वे आठ विभिन्न भाषाओ का रूप धारण कर चुकी है और उनमें किसी दो में इतना ही भेद है जितना कि अग्रेजी और (हॉलेण्ड की) डच भाषा में।"

(चाइना एण्ड दि चाइनीज)

२. वाल्टर सी० हिल्लर . दी चाइनीज़ लेंग्वेज एण्ड हाऊ टू लर्न इट।

वर्षों में इस प्रकार विकसित हुई है कि उसने लिखित भाषाओ की भाषा-सम्बन्धी विशेषताओ का निराकरण कर दिया है। जब कोई पदार्थ जैसा बोला जाता है वैसा न लिखा जाकर जैसा देखा जाता है वैसा लिखा जाए, तब इन्हे अपने ढग से बोलते हुए भी समरूप से लिखा जाना सम्भव है। यदि 'उषा' का निर्देशन क्षितिज के ऊपर सूर्य से, 'जगल' का समीपवर्ती दो वृक्षो से, 'जिह्वा' का मुख से किसी वस्तु के बाहर निकलने से, 'शब्द' का बाष्प के मुख से निकलने से, 'बोली' का शब्द और जिह्वा से, 'दीप्ति' का सूर्य और चन्द्र के सहमिलन से, 'सुखद' का स्त्री और शिशु से, 'पौरुष' का क्षेत्र और शक्ति से, 'घर' का छत के नीचे वराह से, 'शान्ति' का छत के नीचे कई पुरुषो या स्त्री से, 'मित्रता' का दो हाथो से, 'गोत्रनाम' का स्त्री और जन्म से, 'ससद' का वादविवाद, शासन और सम्मेलन से, किया जाता है तो इसमे कोई आश्चर्य नही कि उच्चारण में समस्त परिवर्त्तन और व्याकरण के बचे-खुचे तत्त्व चीनी भाषा में महत्त्वहीन हो जाते है। इस दृष्टि से चीनी भाषा के उद्‌भव की तुलना हिन्दी के साथ नही की जा सकती।

मण्डारिनो और ब्राह्मणो के स्वभाव और कार्य भिन्न थे। यह विचार करने में कठिनता नही होगी कि यदि ब्राह्मण जनता को सस्कृत सुनने से भी रोकने की बजाय उन्हे स्वय सस्कृत पढाते, यदि उसे तीन सहस्राब्दियो तक अटलता से स्थिर रखने की अपेक्षा उसमें वे समयानुसार परिवर्तन करते रहते जिससे वह बोलचाल की भाषा के निकट रहती, और यदि वे अपने-आपको बिलकुल रुद्ध और निषेधात्मक वर्ग में बाँध रखने की अपेक्षा समस्त जातियो और क्षेत्रो के योग्यतम व्यक्तियो को अपने वर्ग मे लेते तो भारत का भाषा सम्बन्धी भूगोल बिलकुल अलग ही होता।

बगैर साँस्कृतिक विशेषताओ को जाने भाषाओ में सादृश्य ढूँढना भ्रमपूर्ण है क्योकि भाषा हमारे बौद्धिक जीवन की अपेक्षा, जो सामान्यत ऊपरी ढाँचे का रूप धारण करता है, कही अधिक इन विशेषताओ द्वारा प्रभावित होती है। भाषा एक आधार से दूसरे आधार पर प्रसारित होती रहती है और एक आधार के दूसरे से प्रतिस्थापित हो जाने पर परिवर्तित नही होती, जैसा कि ऊपरी ढाँचे में होता है। इसलिए जनता की साँस्कृतिक और आध्यात्मिक विशेतायें, जो उनकी भौतिक और भौगोलिक परिस्थितियो के कारण जन्म लेती है, धर्म, रीतियो, सामाजिक स्वभाव इत्यादि की अपेक्षा भाषा पर अधिक गहरा प्रभाव डालती है।

भारतीय भाषाविदो को अपने अध्ययन में भाषाविज्ञान के सर्वमान्य

नियमो का प्रयोग करना चाहिए जैसे (१) आधुनिक भाषाओ का निर्गमन बडी भाषा के छोटी भाषाओ में विपाटन द्वारा न होकर छोटी भाषाओ के बडी भाषा में सश्लेषण द्वारा हुआ है, (२) हिन्दी-क्षेत्र के समान विशाल पैमाने पर राष्ट्रभाषा का अस्तित्व में आना उतने ही विशाल पैमाने पर एकीकरण की शक्तियो के कार्य करने से ही हो सकता था, (३) भाषाएँ दमन अथवा बलपूर्वक आत्मसात् करने का विरोध करती है, (४) बोलचाल की भाषाओ का उन्मज्जन न तत्कालिक होता है न उनमें बिल्कुल नवीन व्याकरण-पद्धति या शब्दो का समूह ही उपज सकता है। ये भाषाएँ कई शताब्दियो की सकरण की मन्द प्रक्रिया का परिणाम हैं जिसमें एक की आधार शब्दावली और व्याकरण की पद्धति विजयी होती है और उसके स्कन्ध के चारो ओर पराजित भाषाओ के सर्वोच्च तत्त्व एकत्रित और एकीकृत होते है। उपर्युक्त वैज्ञानिक नियमो के प्रकाश मे जब आधुनिक हिन्दी के उद्भव का अध्ययन किया जायगा, तभी ससार के अन्य भागो की भाषाओ से उसकी तुलना लाभदायक हो सकेगी।

अध्याय १०

प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी

भाषा में महान् स्थायित्व होता है। उसमें प्रतिरोध की इतनी महान् शक्ति होती है कि किसी दूसरी भाषा को उसके ऊपर लादना अथवा बलपूर्वक उसे आत्मसात् करना असम्भव है। इसका कारण यह है कि भाषा स्वय जीवन ही का स्वाभाविक फल है, चूँकि जीवन उसे उत्पन्न करता है अतएव वही उसका पालनपोषण भी करता है। किसी भी भाषा को उसे बोलने वाली जनता से अलग हटाकर स्वतन्त्र और इन्द्रियातीत समझना भूल है। उसकी जड़ें जन-जन की चेतना में गहराई तक पहुँची रहती है। सत्य तो यह है कि भाषा कार्यरत जीवन और सक्रिय जीवन के अतिरिक्त और कुछ नही।

यह सर्वत्र स्वीकार किया जाता है कि उत्तरी भारतीय जनता अपनी-अपनी बोलियाँ और प्रादेशिक भाषाएँ ही बोलती है, आधुनिक हिन्दी नही। उसका जीवन सामन्तवाद द्वारा इतना सीमाबद्ध रहा है कि कम-से-कम उसमें से नब्बे प्रतिशत ने अपने समस्त जीवन में आधुनिक हिन्दी का एक भी वाक्य सुना न होगा, बोलना तो दूर की बात है। बोलचाल की भाषाओ का, उसके दैनिक परिश्रम से, उसके समस्त क्रियाकलाप से और उसके जीवन की समस्त अवस्थाओ से सीधा सम्बन्ध रहता है। इन भाषाओ द्वारा उसका सामूहिक जीवन निरन्तर समृद्ध और विकसित होता रहता है। जिन भाषाओ की जडे इतनी गहरी हो उनको स्थानच्युत अथवा समाप्त करना कितना कठिन है, इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होगे।

सेन्सस कमिश्नर बडौदा (१९३१) ने बताया है कि जहाँ किसी उप-जाति के लोगो में आर्थिक स्वतन्त्रता अथवा भूमि से घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता, केवल उनकी ही उपजातीय-भाषा 'हिन्दूकरण' द्वारा समाप्त होती है। जबकि गुजराती बोलने वाले प्रभुओ पर आश्रित बुबला श्रमिको की भीली बोली को गुजराती शीघ्रता से हटाती जा रही है, चौद्रो की भाषा उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता और भूमि से सीधे उत्पादन-सम्बन्ध के कारण अछूती बच रही है।

इसी प्रकार बलूचिस्तान में दो लाख से कुछ अधिक लोगो द्वारा बोली जाने वाली एक द्राविडी भाषा, ब्राहुई, दो सहस्र वर्षों से अधिक काल के आर्यीकरण से बच रही है।

इसमें कोई आश्चर्य नही कि ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी, बुन्देलखडी, मागधी और मैथिली सरीखी भाषाये जो करोडो की मातृभाषायें है और जिनका भूमि से सीधा सम्बन्ध है, जीवित और फलती-फूलती रही है। ये भाषाएँ उत्तरी भारत मे इस काल में रचित सर्वोच्च कविताओ की निरन्तर स्रोत रही है। पिछली दो दशाब्दियो में अवधी ही में बलभद्र दीक्षित पढीस, बशीधर शुक्ल, द्वारकाप्रसाद मिश्र, रमई काका, दयाशकर देहाती, तोरणदेवी शुक्ल, ब्रजनन्दन, शिवदुलारे त्रिपाठी, लक्ष्मणप्रसाद मिश्र, अनूपशर्मा, शारदा प्रसाद, लक्ष्मीशकर निशक, बदरीप्रसाद पाल, सुमित्राकुमारी सिन्हा इत्यादि कवि और कवयित्री हुए[1] है, किन्तु इनकी अवधी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में नही सम्मिलित की जाती जैसे पिछले काल के कवियो की जाती है। बलभद्र दीक्षित पढीस की कविता की चर्चा करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने उन्हे प्रमुख कवि माना है और कहा है ·

"दीक्षित जी को अवधी के शब्द-माधुर्य की वैसी ही परख थी, जैसी किसी महान कवि को हो सकती है। उनकी रचना 'तुलसीदास' का एक एक शब्द मधुर है, सम्पूर्ण कविता मानो 'रामचरितमानस' में डूबकर निखर उठी है। प्रकृति-वर्णन में वह ताजगी है जो अवध की घनी अमराइयो में पपीहे और कोयल की बोली में होती है और जो पिंजरे में बन्द मैना की बोली में सुलभ नही होती। उनकी कविताओ में वही आनन्द है जो खेत-खलिहानो में घूमने वालो को खुली हवा लगने से प्राप्त होता है।[2] हिन्दी क्षेत्र की सबसे पिछडी हुई प्रादेशिक भाषा बुन्देली तक में निरन्तर साहित्य रचना होती रही है। आधुनिक बुन्देली कवियो में रामेश्वर प्रसाद गुरु, गोरीशकर लहरी, गोपाल शर्मा, नाथूलाल सर्राफ को बुन्देलखण्ड में बहुत लोकप्रियता प्राप्त है।

इन भाषाओ में गद्य की भी महान कृतियाँ रची जा रही है। अभी हाल ही मे ब्रजभाषा में इतिहास और सस्कृति पर अनेक रचनाएँ हुई है। राहुल साकृत्यायन और नागार्जुन सरीखे ख्यातिप्राप्त लेखक अपनी मातृ-

1 दे० त्रिलोकीनारायण दीक्षित . अवधी और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। कुछ अन्य प्रादेशिक भाषाओ के इतिहास भी राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुए है जिनसे उनकी साहित्यिक समृद्धि का पता लगता है।

2 अवध और उसका साहित्य से उद्धृत।

भाषाओ में भी लिखते है। मैथिली में अब साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ छप रही है। इसकी छोटी कहानियाँ, विशेषकर मनमोहन झा की, हिन्दी के अनुवाद द्वारा सम्मान प्राप्त कर चुकी है।

श्री सत्येन्द्र ने ब्रजभाषा की ओर सकेत करते हुए कहा है "कुछ लोगो की यह धारणा हो चली है कि ब्रजभाषा साहित्य अपने पूर्वगौरव से वचित होकर हीन हो रहा है। ब्रजभाषा आज भी उतनी ही जीवित है जैसी सूरदास के समय में थी। आज भी वह भावाभिव्यक्ति में उतनी ही शक्तिशाली है। उसकी मधुरिमा को कौन पहुँच सका है।"[1] हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ' में सुविख्यात लेखको द्वारा अपनी प्रादेशिक भाषा के बारे में ऐसे ही विचार प्रकट किये गए है[1]।

इसी प्रकार भोजपुरी के सम्बन्ध में श्री गणेश प्रसाद सिंह लिखते है "आज भोजपुरो भाषा भाषियो की सख्या लगभग पौने तीन करोड है। प्रदेश विस्तार तथा बोलने वालो की सख्या की दृष्टि से भोजपुरी भारत की अत्यधिक मान्य आठ भाषाओ में, जिनमें तीन सरकार द्वारा शिक्षा का माध्यम स्वीकृत हो चुकी है, अपना स्थान सर्वप्रथम रखती है' भोजपुरी का अपना साहित्य भी है। इसको सकलित करने की दशा में अनेकानेक विद्वान कार्य कर रहे हैं। हम देखते हैं कि इस क्षेत्र का अपना इतिहास है, जो अभी तक प्रकाश में नही आ सका है, क्योकि इस दृष्टि से सोचा नही जाता रहा है। इस क्षेत्र की अपनी सस्कृति और अपना रहन-सहन है। इसे इस दिशा में विकास करने का अवसर अब तक नही मिला है। देखे, वह सौभाग्य का दिन कब आता है, जब विभिन्न भाषाओ का अपना क्षेत्र स्वीकार कर लिया जाएगा, उसी प्रकार जिस प्रकार अवधी को अवध और ब्रजभाषा को ब्रज, और इन्हे अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर मिल सकेगा ?"[2]

गत वर्षो में इन भाषाओ के भाषा और साहित्य सम्बन्धी कई इतिहास निकले है जिनमें इनके पृथक् अस्तित्व को माना गया है और इन्हे हिन्दी की केवल बोलियाँ मानने का विरोध किया गया है। इस विषय की ओर सकेत करते हुए महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने विचार प्रकट किया है कि "हिन्दी क्षेत्र की भाषाओ में ब्रज, राजस्थानी, अवधी और मैथिली बहुत पहले से साहित्यिक भाषाएँ रही है और अन्य भाषाओ को भी हम बोलियाँ कहकर

---

१ हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ—पब्लीकेशन्स डिवीजन, मिनिस्टरी आव इन्फारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिग, ओल्ड सेक्रेटेरियट, नई दिल्ली।

२ गणेश प्रसाद सिह भोजपुरी और उसका क्षेत्र—नया पथ, लखनऊ, जनवरी १९५७।

केवल इस कारण से नही हटा सकते कि उनमें कोई लिखित साहित्य नही है। हम ऐसा इसलिए भी नही कर सकते कि वे सब प्रकार के भावो को प्रकट करने में समर्थ है और इन दिनो तो उनमें साहित्य का भी निर्माण होने लगा है।"[१]

वास्तव में इन प्रादेशिक भाषाओ का अलग-अलग भाषा के रूप में स्वीकार किया जाना कोई नई घटना नही है। ए० एफ० रूडोल्फ होरन्ल ने इस ओर ७५ वर्ष से भी अधिक पूर्व ध्यान आकर्षित किया था। पूर्वी हिन्दी और पच्छिमी हिन्दी, उत्तरी भारत की भाषाओ को दिए हुए इन नामो की ओर सकेत करते हुए उन्होने विचार व्यक्त किया था "ये पद ठीक नही है, क्योकि इनसे बहुत कुछ ऐसा प्रभाव पडता है कि पच्छिमी और पूर्वी हिन्दी, एक हिन्दी भाषा की दो विभिन्न बोलियाँ है। वास्तव में वे एक-दूसरे से उतनी ही पृथक है जितनी पूर्व की बगाली और पच्छिम की पजाबी हिन्दी से है। ठीक तो यह है कि पूर्वी हिन्दी और पच्छिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी हिन्दी और बिहारी में अधिक सामीप्य है तथा दूसरी ओर पच्छिमी हिन्दी और पजाबी में पच्छिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा अधिक सादृश्य हैं। सक्षेप में पच्छिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी को अलग बोलियो की अपेक्षा विभिन्न भाषाओ में वर्गीकृत होने का उतना ही अधिकार है जितना पजाबी और बगाली को।"[२]

बीस वर्ष पश्चात् इसी ओर सकेत करते हुए ग्रियर्सन ने इसकी पुष्टि की और कहा "बिहारी बोली का बगाली से हिन्दी बोलियो की अपेक्षा बहुत निकट का सम्बन्ध और सादृश्य है, और इसी प्रकार हिन्दी, बिहारी की अपेक्षा, पजाबी से निकट सम्बन्ध और समानता रखती है। अतएव तर्क-सगत यही है कि यदि पजाबी और बगाली हिन्दी वर्ग की बोलियो और बिहारी से स्वतन्त्र भाषाएँ मानी जा सकती है तो बिहारी और हिन्दी वर्ग की अन्य भाषाओ को भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र भाषा मानना चाहिए।"[३] होरन्ल और ग्रियर्सन दोनो ने पूर्वी और पच्छिमी समूह की हिन्दी भाषाओ के व्याकरण सम्बन्धी भेदो, जैसे व्युत्पत्ति, विभक्ति, प्रत्यय, शब्द रचना, उच्चारण, इत्यादि, का विस्तृत वर्णन देकर अपना दृष्टिकोण प्रमाणित किया है।

बाद के परम्परावादी हिन्दी लेखक भी हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न

---

१ राहुल साकृत्यायन दि लैग्वेज क्वैश्चन—इण्डियन लिटरेचर, बम्बई-न० ३ १९५३।

२ ए० एफ० रूडोल्फ होरन्ल ए ग्रामर आव दि ईस्टर्न हिन्दी।

३ जी० ए० ग्रियर्सन सेविन ग्रामर्स आव दि बिहारी लैंग्वेज।

प्रादेशिक भाषाओ में परस्पर व्याकरण-सम्बन्धी भेदो पर जोर देते रहे है। यह स्वीकार किया जा चुका है कि हिन्दी, अवधी अथवा बिहारी की अपेक्षा पजाबी के अधिक निकट है। डा० सु० कु० चटर्जी का विचार है कि पजाबी मर्द लोग है और यह उन्ही का प्रभाव है जिसने हिन्दुस्तानी को उत्तरी भारत की मरदानी भाषा बना दिया है।[1] श्री अयोध्यासिंह स्वीकार करते है कि भाषा विज्ञान के विचार से हिन्दी एक वस्तु है और साहित्य की दृष्टि से दूसरी वस्तु। उनके विचार में यद्यपि कई कारणो से (जिनका उल्लेख नही किया गया) बिहारी ठीक ही हिन्दी समझी जाती है तो भी वह बगाली और उडिया के समान मागधी (प्राकृत) से निकली है।[2] इसी सम्बन्ध में डा० श्याम सुन्दरदास कहते है कि अवधी और ब्रज केवल साहित्यिक बोलियाँ है। अगरचे ये हिन्दी के परिवार की नही है किन्तु फिर भी समझी उसी परिवार की जाती है, किन्तु गुजराती और राजस्थानी यद्यपि कोष और व्याकरण की दृष्टि से उसी परिवार की है, फिर भी ये हिन्दी की साहित्यिक बोलियाँ नही समझी जाती।[3] सबसे बडा और प्रामाणिक हिन्दी का कोष 'हिन्दी शब्दसागर' है, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिन्दी के कुछ अत्यन्त प्रमुख विद्वानो द्वारा बनाया गया है। इसकी भूमिका में बिना अनिवार्य परिणाम निकाले हुए प्रादेशिक भाषाओ के सुस्पष्ट व्याकरण सम्बन्धी भेदो का वर्णन किया गया है। उस लम्बी भूमिका में दिये गए अवधी, ब्रज और खडी बोली के व्याकरण सम्बन्धी भेदो से यह विदित हो जाता है कि ये तीनो विभिन्न भाषाएँ है।

अब उन युक्तियो का परीक्षण बाकी रह जाता है जो इस तर्क के समर्थन में दी जाती है कि हिन्दी क्षेत्र की जनता का एक विशिष्ट हिन्दुस्तानी 'राष्ट्र' है और उसकी एक मात्र बोलचाल की भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी है जोकि उस समस्त क्षेत्र की मातृभाषा है।

ये युक्तियाँ निम्न[4] है —

(१) हिन्दी क्षेत्र के शहरों में मध्य श्रेणी के लोग, जिनमें परस्पर आर्थिक

१. सु० कु० चटर्जी इन्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी।
२ अयोध्यासिंह हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास।
३ श्यामसुन्दरदास . भाषा विज्ञान।
४. इनमें से अधिकाश युक्तियाँ डा० रामविलास शर्मा की "आन दि लेंग्वेज क्वेश्चन इन इण्डिया" से ली गई है; दे० 'दि कम्यूनिस्ट' बम्बई—सितम्बर—अक्टूबर १९४९।

सम्बन्ध है, हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही बोलते है। ब्रज, अवधी और बुन्देलखडी के क्षेत्रो मे इस श्रेणी के युवक-युवतियो मे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते रहते है, किन्तु उनमें से कोई भी यह नही सोचता कि वह किसी विभिन्न भाषा-क्षेत्र में विवाह कर रहा है।

(२) घरो मे ब्रज, अवधी आदि बोलने वाले सब लेखक खडी बोली के हिन्दी या उर्दू रूप में लिखते है।

(३) श्रमिकवर्ग के लोग विशेषकर औद्योगिक श्रमजीवी कभी भी विभिन्न क्षेत्रो के किसानो की बोली नही बोलते और वे अपनी सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी या हिन्दुस्तानी का व्यवहार ही करते है।

(४) प्रादेशिक भाषाओ और हिन्दी की नब्बे प्रतिशत शब्दावली सामान्य है।

(५) इन सब क्षेत्रो मे समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, हस्तविज्ञप्तिया तथा विज्ञापन-पत्र हिन्दी मे छपते है और कभी किसी को उन्हे अपनी भाषाओ में निकालने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। सामान्य वातावरण मे सभी एक भाषा का सहारा लेते है जो खडी बोली हिन्दी या हिन्दुस्तानी के अतिरिक्त और कोई भाषा नही होती।

(६) आधुनिक भारतीय भाषाएँ इस सहस्राब्दी के प्रारम्भ में उदित हुईं, जब हमें इन प्रादेशिक भाषाओ का कोई चिह्न तक नही मिलता। इन प्रादेशिक भाषाओ की भी अपनी बोलियाँ है, और कोई कारण नही कि ये सब हिन्दी की बोलियाँ क्यो न मान ली जायँ।

भारत में मध्यमश्रेणी का पजाबी हिन्दू और पाकिस्तान में पजाबी मुसलमान, पजाबी भाषा और पजाबीपन के स्वतत्र अस्तित्व का तीव्र विरोध करता है। भारतीय पजाब में हिन्दू समाचारपत्रो तथा मध्यमश्रेणी के हिन्दू नेताओ की प्रार्थना पर उस राज्य के हिन्दुओ ने पिछली जनगणना (१९५१) में अपनी मातृ-भाषा हिन्दी लिखाई थी, उन पजाबी हिन्दुओ ने भी जो जनसख्या प्रगणको के प्रश्नो का उत्तर अत्यन्त साधारण हिन्दुस्तानी मे भी न दे सकते थे। पाकिस्तानी पजाब मे उर्दू सरकारी रूप से प्रान्त की भाषा स्वीकार की जा चुकी है और पजाबी भाषा के अस्तित्व का उल्लेख भी अभिद्रोह समझा जाता है।

पजाबी लेखको का अल्पाश ही आज पजाबी भाषा में लिखता है[1] और

१. सु० कु० चटर्जी: "कुछ सिखो तथा अन्य लोगो को छोडकर अधिकाश पजाबी हिन्दुस्तानी (नागरी हिन्दी या उर्दू) का व्यवहार करते है"।

उनमें अधिकाशत सिख हैं। बहुत थोडे अपवादो को छोडकर, हिन्दू और मुसलमान और बहुत से सिख साहित्यकार भी हिन्दी या उर्दू में लिखते हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व अविभाजित पजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी और उर्दू परीक्षाओ मे उस समय उत्तरीभारत के अन्य विश्वविद्यालयो की अपेक्षा, अधिक विद्यार्थी बैठते थे। पजाबी हिन्दू की मातृभाषा का उल्लेख करते हुए प्रो० ओ० पी० कहोल लिखते है "एक पजाबी हिन्दू की मातृभाषा क्या समझी जानी चाहिए ? वह पजाबी बोलता है और पूछे जाने पर आग्रहपूर्वक इस पर अडा रहता है कि उसकी मातृभापा हिन्दी है। वह किसी युक्ति से भी सत्य को नही देख पाता"।[1]

हिन्दी प्रदेश मे मध्यमश्रेणी के लोग यदि आज अपनी मातृभाषा की अपेक्षा हिन्दी की ओर अधिक झुके हुए हैं तो इसका कारण उनकी बोलचाल की भाषा हिन्दी होना नही, कुछ और है।

इस प्रकार यह कहना भी गलत है कि नगरो की श्रमिक जनता हिन्दी या हिन्दुस्तानी को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है। अवधी और ब्रज के क्षेत्रो के श्रमिक अपने घरो में अपनी-अपनी मातृभाषा बोलते है। कानपुर तथा अन्य नगरो में श्रमिक वर्ग थोडा-बहुत खडी बोली को ग्रहण करने के लिए आवश्यकतावश बाध्य होता है। प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद पूर्वी और मध्य यूरोप के सब भागो से शरणार्थियो ने पेरिस में पहुँचकर बहुत थोडे ही समय में कामचलाऊ फ्रेंच का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब परिस्थितियो ने उन्हे पेरिस की सडको पर फेंक दिया, तब वे साथ-साथ रहने और एक दूसरे को जानने के लिए बाध्य हुए। जो फ्रेंच भाषा उन्होने सुनी और जिसे स्मरण रख सके उसमें उन्होने अपनी तथा अपने शरणार्थी साथियो की भाषा के कुछ शब्द मिला दिये और इस प्रकार उनका जीवन व्यतीत होने लग गया। इस तरह उन्होने बाजारू फ्रेंच की जानकारी प्राप्त कर ली।[2] कानपुर के बाजारो में यह अनुक्रम और भी सरलतर है, क्योकि अवधी, ब्रजभाषा आदि हिन्दुस्तानी से पूर्वी यूरोपीय भाषाओ और फ्रेंच की अपेक्षा कम दूरी पर है। पाकिस्तान बनने से पूर्व कई ऐतिहासिक कारणो से पजाबी श्रीनगर, पेशावर, क्वैटा आदि नगरो मे, बगैर इन प्रदेशो पर अपना अधिकार जताये, सामान्य सचार का साधन बन गई थी।

भारतवर्ष मे विवाह भाषाई मान्यता की अपेक्षा धर्म और कुलगोत्र

१. प्रो० ओ० पी० कहोल : हिन्दूज एण्ड दि पजाबी स्टेट—हिन्दी प्रचारिणी सभा, अम्बाला।

२. दे० जोलेण्डा फोल्डेस की 'दि स्ट्रीट आव दि फिशिंग कैट'।

की परम्परा से अधिक प्रभावित होते है। इस विषय में बनारस का अग्रवाल अपनी भाषा बोलने वाले गैर-अग्रवाल की अपेक्षा मेरठ या इन्दौर के अग्रवाल के साथ सम्बन्ध को मान्यता देगा। पजाबी ब्राह्मण या जैन पजाब के अ-ब्राह्मण या अ-जैनियो की अपेक्षा पजाब के बाहर के ब्राह्मणो और जैनियो से सम्बन्ध को मान्यता देते है। अतएव इससे यह नही प्रमाणित किया जा सकता कि पजाबी भाषा अस्तित्वहीन है या समस्त उत्तरीभारत की जनता में एक सामान्य बोलचाल की भाषा वर्तमान है। इसी प्रकार समाचारपत्र, विज्ञापन-पत्र, हस्त-विज्ञप्तियाँ इत्यादि पेशावर से पटना तक और श्रीनगर से इन्दौर और हैदराबाद तक हिन्दी या उर्दू में छापी जाती है। समस्त कश्मीरी और निन्यानवे प्रतिशत पजाबी, जो अँगरेजी के अतिरिक्त किसी भाषा मे समाचारपत्र पढते है, उर्दू ही में पढते है, किन्तु इससे यह नही प्रमाणित होता कि उनकी मातृभाषा कश्मीरी या पजाबी नही है। हैदराबाद राज्य के नगरो की मिश्रित भाषा, हिन्दी क्षेत्र के समान उपादानो के कारण, हिन्दुस्तानी है। इसी बहाने, निजाम अपने शासन-काल में उस राज्य में बोलचाल की भाषाओ के न्यायोचित अधिकार ही अस्वीकार करता रहा।

सबसे निर्णायक तर्क तो कृषकवर्ग की भाषा है, न कि श्रमिकवर्ग की, क्योकि भाषा भूमि से अलग नही की जा सकती। भाषा ग्राम क्षेत्र में ही पलती-पनपती है और कृषकवर्ग ही उसका सृष्टिकर्ता है। इस सम्बन्ध में सभी इस बात को स्वीकार करते है कि 'कुछ शिक्षित लोगो के अपवाद को छोडकर समूचा कृषकवर्ग अवधी, ब्रज, इत्यादि के विभिन्न रूपो को बोलता है"।[1]

जहाँ जन-साधारण से सम्पर्क की आवश्यकता होती है वहाँ हिन्दी का नही प्रादेशिक भाषाओ का उपयोग होता है। पिछले चुनाव में बुदेलखड में बुदेली का जो उपयोग हुआ इसका उल्लेख करते हुए श्री पूरनचन्द श्रीवास्तव लिखते है "इसका प्रधान कारण यह है कि लोग खडी बोली की अपेक्षा अपने इलाके की बोली शीघ्र समझते है।"[2]

इस युक्ति के विषय मे, कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ की निन्यानवे प्रतिशत शब्दावली सामान्य है, यह निवेदन किया जा सकता है कि यह पजाबी और बगाली के विषय में भी उतना ही ठीक है। हिन्दी का अनुवाद पजाबी में, थोडे परिवर्तन के साथ शत-प्रतिशत उन्ही शब्दो को रखते हुए, किया जा सकता

१ डा० रामविलास शर्मा : आन दि लैंग्वेज क्वैश्चन इन इण्डिया—दि कम्यूनिस्ट, बम्बई—सितम्बर-अक्टूबर १९४९।

२ नवयुग के बुदेली लोकगीत—नया पथ लखनऊ, जनवरी १९५७।

है। 'सरल बगला शिक्षक'[1] के अन्त में 'हिन्दी-बगाली-कोष' के जो ३०० शब्द दिये हुए है वे सभी समान है या एक ही धातु से निकले हैं।

इन प्रादेशिक भाषाओ में जो अलग शब्द है उन्हे भुलाना ठीक न होगा, जैसे 'गाँव' के लिए केवल सस्कृत से उद्भूत ग्राम को ले लेना, किन्तु उन शब्दो को छोड देना जो इसके लिए विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ के अपने-अपने है। इस तरह हम जो चाहते है वह प्रमाणित तो कर लेगे, किन्तु यह हमें सत्य के निकट नही ले जायगा। डब्लू० एच० फैलन ने १८७० मे इस बात पर जोर देते हुए लिखा था

"बोलचाल की भाषाओ में अत्यन्त स्वाभाविक और अभिव्यञ्जक मुहावरे है, जो लिखित भाषा में नही है देशी विद्वान् परिमार्जित साहित्यिक भाषा के कारण, जो उन्हे जनता से अलग कर देती है, फूले नही समाते। किन्तु साधारणतया वे देहाती बोलियो के बहुत से प्रभावशाली और अभिव्यञ्जक पदो तथा मुहावरो से अनभिज्ञ रहते है और उनसे घृणा भी करते है। ये किसी प्रतिभाशाली मस्तिष्क की प्रतीक्षा कर रहे है जो समुख उपस्थित शब्दसमूहो में सूक्ष्म विषमता का प्रतिपादन करे' एक प्राचीन परिसमाप्त भाषा के जीवनहीन अवशेषो मे बाद की भाषाओ के अनपचे तत्त्वो का सकलन कर उर्दू और हिन्दी का अधिकाश भाग बनाया गया है जो जीवित बोली की गरमी और चमक से रहित है।"[2]

इसी ओर सकेत करते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते है

"जनपदी भाषाओ में शब्दो की जो बहुरूपी प्रखर अर्थ-शक्ति है, उसकी ओर आपका ध्यान गया है। जिस मनचीते ढग से जनपदी शब्द मनोभावो को कह सकते है, वह बात सस्कृत की लठिया टेक कर चलने वाली हमारी इस बोझिल पद्धति में कहाँ आ सकती है? देहात की यात्रा भाषा-विज्ञानी के लिए तीर्थ-यात्रा की तरह फलदायिनी होती है। नये नये शब्दो की बालें मानवी कण्ठ रूप धान-जडहनो से बाहर निगर-निगर कर चारो ओर अपने झम्पा-झूलन से मन बहलाती हुई दिखाई पडेंगी। कनक-जीर की तरह के उन दानो में जिनको भाषा का दूध जमा हुआ दिखाई पडे वे एक-एक शब्द को पाकर धन्य हो जायँगे और बटोर कर थैली मे भरने लगेगे। कभी-कभी एक घण्टे की जनपद-यात्रा या साहित्यिक तीर्थ-यात्रा से इतना फल मिला कि महीनो के

१. सरल बगला शिक्षक : श्रीगोपाल चक्रवर्ती—स्वयभूति पुस्तकालय, बनारस।
२ एस० डब्लू० फैलन : इट्रोडक्शन टु न्यू हिन्दुस्तानी-इग्लिश डिक्शनरी : लजारस एण्ड क०, बनारस।

लिए मन आनन्द से भर गया।

"एक-एक बात के लिए बोलियो में कैसे-कैसे ढाले हुए वाक्य और टकटक-टकटक करते हुए शब्द हमारे-आपके परिचय की बाट जोह रहे हैं। बहुत काल के बाद नगर के निवासी गाँवो में जाकर जैसे वहाँ के जनपद जनो का कुशल सवाद पूछ रहे है और उनके आपसी मिलन में जो अमृत-रस बरस रहा है, जीवन में एक नया माधुर्य आ गया है, ठीक वैसा ही कुछ दिव्य आनन्द गाव के चोखे और नये प्रत्ययो के बहुरूपी भेष धरने वाले शब्दो का अपने साहित्य में स्वागत करने से हमें प्राप्त होगा। हिन्दी के तद्धित और कृदन्त प्रत्ययो का जो नाती-परनातियो वाला बहुत भारी कुटुम्ब है, उसकी जन-सख्या के लिए हमें देहातो के ठेठ अभ्यन्तर में निस्सकोच पैठना होगा। जहाँ हमारी दृष्टि अब तक जाकर रुक जाती थी, उससे बहुत दूर अपनी-अपनी छोटी मडैयो मे चैन की बसी बजाते हुए, प्रत्यय हमको मिलेगे। यदि हमने जनपदी कार्य को न अपनाया तो हमारी प्रगति के हाथ-पैर मारे जायेंगे, ऐसा मुझे दीखता है। मेरी समझ में यह आने वाले महान् युग का धर्म है। इतिहास के प्रचण्ड विकास की रूपरेखा हमें इस कार्य की ओर प्रेरित कर रही है।"[1]

विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ के अलग अस्तित्व पर जोर देते हुए डा० अमरनाथ झा ने १९४३ में आगरा विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कहा था "हिन्दी मेरी मातृभाषा नही है। मैंने यह स्पष्ट रूप से अबोहर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में कहा था। चूँकि हिन्दी मेरी मातृभाषा नही है इसके यह अर्थ कदापि नही हुए कि मुझे हिन्दी से कुछ करना ही नही है।" मधुकर के सम्पादक को एक पत्र में डा० झा ने लिखा था कि "मातृ-भाषा और राष्ट्रभाषा में सपत्नी भाव होना अहितकर है...... अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा और राजस्थानी का व्यवहार बन्द कर दिया जाय ऐसा आर्डीनेन्स जारी कर दिया जाना अन्याय है।"[2]

एक भाषा की शब्दावली से अधिक उसका व्याकरण महत्त्व रखता है। व्याकरण के नियम शब्दो और उनके रूपान्तरो वाक्यो में सयोजन कर भाषा को प्रवाह और विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते है। यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि इन प्रादेशिक भाषाओ के व्याकरण अलग-अलग है। यहाँ तक कि एक ही धातु से उद्भूत शब्द विभिन्न भाषाओ में अपनी विशिष्टता रखते है, जैसा कि फैलन ने लिखा है : "एक ही धातु से निकले हुए बहुत से

१ मधुकर— जनपद आन्दोलन अक, अप्रेल-अगस्त १९४४।

२. वही।

हिन्दी शब्द और उनके साधारणत अनेक गौण अर्थ जीवित धातु की जीवन-शक्ति का साक्ष्य देते है जो निरन्तर नवीन अकुर निकालती रहती है।"[१]

एक भाषा में बोलियो की विद्यमानता उसके अस्तित्व को समाप्त नही कर देती। जिन परिस्थितियो के कारण किसी प्रादेशिक भाषा की बोलियाँ पूर्णरूपेण मिश्रित और एकीकृत न होकर एक व्यापक प्रामाणिक भाषा न बन सकी, उनकी विवेचना की जा चुकी है। समाज के औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप पूर्ण रूप से पुन व्यवस्थित हुए बिना, बोलियो का पूर्ण मिश्रण साधारणतया नही होता। उत्तरीभारत में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था को पहले ही धक्का लगा था और अँगरेजो के आने पर सामन्तवाद का पुन स्थिरीकरण हुआ। इसने उपजातियो, जातियो और क्षुद्रराष्ट्रो की बोलियो या उपभाषाओ का प्रामाणिक भाषा में पूर्ण विलयन कठिन बना दिया। आज की भारतीय भाषाओ में पजाबी से बगाली तक और कश्मीरी से मलयाली तक कदाचित ही कोई ऐसी हो जिसमें बोलियाँ न हो। हिन्दी क्षेत्र की प्रादेशिक भाषाएँ भी किसी भिन्न स्थिति में नही है।

पजाबी भाषा के उद्भव के अध्ययन से पता चलेगा कि आधुनिक भारतीय भाषाओ के अकुरण के लिए १६ वी शताब्दी में ही परिस्थितियाँ तैयार हुईं, पहले नही, और तब भी इतने विशाल पैमाने पर नही कि समस्त हिन्दी क्षेत्र के लिए पर्याप्त हो। पजाबी भाषा का उद्भव भी ११वी और १२वी शताब्दी में खोजा जाता है,[२] यद्यपि उस काल की भारत की भाषाओ की सूची में अमीर खुसरो ने 'लाहोरी', 'मुल्तानी' इत्यादि का उल्लेख किया है, किन्तु पजाबी का नही। उस समय पाँच दरियाओ के देश को पचनद कहा गया है, जिस नाम का महाभारत में भी उल्लेख है। मुसलमानो के आने के बाद लाहौर राजधानी हो गया। पूर्वी और पच्छिमी पजाब के बीच में स्थित होने के कारण कई शताब्दियो के क्रम द्वारा उसने दोनो क्षेत्रो की बोलियो को मिलाकर एक प्रामाणिक भाषा होने में सहायता की।[३]

गुरू के सिख गुरुओ ने किसी प्रामाणिक पजाबी में न लिखकर, हिन्दवी, प्राचीन हिन्दवी, सहसक्रीती में या पजाब की कई बोलियो में लिखा था। गुरु गोबिन्दसिह ने ब्रजभाषा में भी रचना की थी। 'जगनामा' के रचयिताओ अथवा सूफी कवियो ने पजाब की बोलियो में या पडोस की बोलियो के मिलने-जुलने

१ एस० डब्लू० फैलन : न्यू हिन्दुस्तानी इग्लिश डिक्शनरी।
२. दे० प्यारासिह पदम : पंजाबी बोली दा इतिहास।
३ दे० सुरेन्द्रसिंह नरूला पजाबी साहित्य दा इतिहास।

से बनी भाषा में रचना की थी। दिल्ली-आगरा से काबुल के समस्त व्यापार का मार्ग दक्षिण में मुलतान और उत्तर में सियालकोट के स्थान पर जब लाहौर से होकर हो गया तब यह नगर और भी महत्त्व प्राप्त कर गया। मुगलो के अधीन तो लाहौर उद्योग और व्यापार का महान केन्द्र बन गया। उसने घोडो के व्यापार में मुलतान तथा अन्य नगरो को पीछे छोड दिया। यहाँ के बने हुए शालो का दूर-दूर तक निर्यात होता था। बाद के मुगल काल में जब दक्षिण और पूर्व के प्रान्तो में परिस्थितियाँ अस्थिर हो गई तब लाहौर मुगल साम्राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर हो गया। टामस मूर ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लालारुख' में उस काल के लाहौर के वैभव का वर्णन किया है। इस वाणिज्यिक समृद्धि ने भिन्न-भिन्न पजाबी बोलियो के ऊपर एक टकसाली पजाबी भाषा के उभरने में सहायता दी। इसका वर्णन मोहमान फानी ने अपनी दबिस्तान-ए-मुजाहिब (१६४५ ई०) मे 'जबान-ए-जाटान-ए-पजाब' के रूप में किया है।

भाई गुरदास ने १७वी शताब्दी के प्रारम्भ मे अपनी 'वारा' इसी टकसाली भाषा के कई तत्त्वो को लेकर लिखी। इसके कुछ समय बाद वारिस का खण्डकाव्य 'हीर' आया जिसने इसी टकसाली पजाबी पर आधारित होकर अन्य कई पजाबी बोलियो का भी व्यवहार किया और इस प्रकार आधुनिक पजाबी के विकास को तीव्र किया। एक परम्परागत प्रेमकथा पर आधारित होने के कारण यह सब वर्णों, वर्गो, सम्प्रदायो और भूभागो में अपनाया गया। बाद के सिखो के शासन ने सामन्तवादी ढाँचे को और अधिक हिला दिया और मध्यस्थित लाहौर ने अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त किया। ब्रिटिश शासन के अधीन लाहौर भारत के सर्वोच्च प्रशासनिक, शैक्षिक, धार्मिक और सास्कृतिक केन्द्रो में स्थान प्राप्त कर गया। जैसे-जैसे पजाब हाईकोर्ट और पजाब विश्व-विद्यालय की गरिमा में वृद्धि हुई और जैसे-जैसे वह आर्यसमाज, सनातनधर्म, अन्जुमन-ए-हिमायत-ए-इस्लाम जैसे 'आन्दोलनो' का केन्द्र होता गया उसका महत्त्व भी बढता गया। इससे प्रामाणिक पजाबी का विभिन्न बोलियो के क्षेत्रो में प्रसार हुआ जो कि पच्छिम से निरन्तर आक्रमणो और आवासन के कारण बिलकुल अलग नही रह सकी थी। दो उपादानो के कारण औद्योगिक क्रान्ति की कमी पूरी हो गई, पहला तो यह कि ब्रिटिश-भारतीय सेना मे विशाल पैमाने पर भरती किये जाने के कारण पजाब के प्रत्येक भाग के ग्रामीण मिलने-जुलने लगे थे, और दूसरा यह कि मध्य तथा पच्छिमी पजाब के नहरी उपनिवेशो में पूर्वी क्षेत्रो के निवासियो की बस्तियाँ विशाल पैमाने पर बन गई थी। किन्तु इन सब बातो के होते हु भी अभी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जो अपनी बोली की

विशिष्टता बनाये हुए हैं। उनमें से एक जम्मू है जिसकी बोली डोगरी का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है और दूसरा मुलतान, जिसने भी अपनी अलग भाषा का दावा किया है। यदि पजाब से पहले नही तो लगभग उसी समय[1] में हिन्दी प्रादेशिक क्षेत्रो में भी एक प्रामाणिक भाषा अकुरित होने लगी थी, किन्तु पजाब में जो बहुत से तत्त्व काम कर रहे थे उनका वहाँ अभाव था। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि समस्त उत्तरी भारत की इन सब विभिन्न बोलियो को मिलाकर एक भाषा बनाने की समन्वयात्मक शक्तियाँ अत्यन्त क्षीण थी।

हिन्दी क्षेत्र की कौन-कौन सी 'बोलियाँ' स्वतन्त्र भाषा मानी जाने के योग्य है, इस पर अभी तक एक मत नही है। ग्रियर्सन का विचार है कि बिहार की तीनो बोलचाल की उपभाषाएँ मागधी, मैथिली और भोजपुरी एक बिहारी भाषा की बोलियाँ है। ये तीनो घनिष्ठ सम्बन्ध वाली बोलचाल की भाषाएँ एक सामान्य प्रामाणिक भाषा बन सकती थी, किन्तु ब्रिटिश शासन के कारण ऐसा न हो सका। इन तीनो में कम-से-कम भोजपुरी[2] स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थिति मे है और मागधी और मैथिली परस्पर सन्निकट होने पर भी विभिन्न है। जैसा बहुधा दावा किया जाता है अवधी की एक बोली बघेली के स्वतन्त्र भाषा स्वीकार किए जाने की कोई सभावना नही है। डॉ० बाबूराम सक्सेना का विचार है कि "भाषा की दृष्टि से बघेली अवधी से भिन्न नही है। लिंग्विस्टिक सर्वे में आम पक्षपात को ध्यान में रखते हुए उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया है। सर्वे में उल्लिखित भेद की दो विशिष्टताएँ अवधी की अन्य बोलियो में भी है।[3]" इसी प्रकार कभी मालवी राजस्थानी की बोली कही जाती है और कभी स्वतन्त्र भाषा। इस सम्बन्ध में श्री श्याम परमार कहते है "वास्तव मे मालवी एक पूर्ण विकसित सम्पूर्ण, शक्तिशाली और विस्तीर्ण भाषा है। जो इसे राजस्थानी का एक भेद मानते है वे भूल करते है"।[4] इसमें कोई सन्देह नही, कि यदि ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत राजस्थान सामन्ती हितो का

१. इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरी भारत में अन्य भाषाओ की अपेक्षा बंगाली और बिहारी पहले उठीं। इसका कारण यह था कि ये क्षेत्र मुस्लिम आक्रमणकारियो के बारम्बार विनाश से बचे रहे। पजाबी, खडी बोली, ब्रज और अवधी के क्षेत्रो से तुलना करते हुए बारहवीं शताब्दी के एक मुसलमान इतिहासज्ञ ने बगाल को 'अच्छे पदार्थों से भरपूर नरक' कहा है।
२. दे० उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य।
३ बा० रा० सक्सेना 'इवोल्यूशन आव अवधी'।
श्याम परमार मालवी और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

मुख्य गढ न बना होता तो मालवी सहित राजस्थानी की विभिन्न बोलियाँ एक भाषा मे मिल गई होती।

जहाँ तक सम्भव हो इन बोलियो के अपनी प्रादेशिक भाषाओ में मिलने के उस अपूर्ण कार्य को पूर्ण होने में प्रोत्साहन देना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के आगमन के कारण रुकावट आ गई थी। जनता को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी सास्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम स्वय चुने। इसकी आशा नही कि इन भाषाओकी संख्या हिन्दी क्षेत्र की उन प्रादेशिक भाषाओ से बढ जाय जिन्हे इस समय मान्यता प्राप्त है। इसमें जनता की वास्तविक अभिरुचि के साथ साथ, भाषा या बोली के विकास की यथार्थ स्थिति का भी ध्यान रखना होगा।

इन प्रादेशिक भाषाओ के विकास और इनके साहित्यिक भाषाओ मे पूर्ण रूप से पुष्पित होने से हिन्दी को जीते-जागते मुहावरो और पदो का अक्षय स्रोत मिल जायगा। ये प्रादेशिक भाषाएँ—अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, खडी बोली, बुन्देलखडी, भोजपुरी, मागधी और मैथिली—कई विषयो में ससार की भाषाओ में सर्वाधिक विकसित हैं। यहाँ की जनता ने ससार की प्राचीनतम सस्कृति की परम्परा पाई है, और उसकी भाषाओ ने अनूठी परिपक्वता और समृद्धि प्राप्त की है। इन अक्षय जलस्रोतो से सिंचन प्राप्त कर हिन्दी कितनी समृद्ध-शस्य हो जायगी इसकी कल्पना की जा सकती है।

महात्मा गाँधी ने पण्डित नेहरू को सलाह दी थी कि जब कभी उन्हे किसी बात पर दुबिधा हो तब वे नीचे दी हुई सलाह पर चले

"मैं तुम्हे एक तिलिस्म देता हूँ। जब कभी तुम्हे शका हो या ठीक तरह से कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तब निम्नलिखित प्रयोग करो। उस सबसे गरीब और कमजोर आदमी का चेहरा, जो तुमने कभी देखा हो, याद करो और अपने से पूछो कि जो कदम तुम उठाने के लिए सोच रहे हो उससे उसका कुछ काम निकलेगा ? क्या इससे उसका कुछ भला होगा ? क्या इससे वह अपने जीवन और भाग्य पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। दूसरे शब्दो मे क्या करोडो भूखो और आध्यात्मिक क्षुधितो को यह स्वराज्य की ओर अग्रसर करेगा ?"

उन निर्धन किसानो का विचार करने पर, जिनके परिश्रम और सफलताओ के साथ ये प्रादेशिक भाषाएँ घनिष्ठतापूर्वक बँधी हुई है, उचित निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई न होगी। हिन्दी के साथ-साथ इन भाषाओ का अस्तित्व स्वीकार करने से जनता की गहनतम आकाक्षाओ की पूर्ति होगी और इससे

ऐसी सृजनशक्ति प्रवाहित होगी जो इस प्राचीन देश के दीर्घ इतिहास में पहले कभी देखने में नही आई।

हिन्दी, प्रादेशिक भाषाओ और जनपदीय भाषाओ के परस्पर सम्बन्ध के बारे में जो तीव्र मतभेद विद्यमान है, वे भाषागत विशेषताओ और भिन्नताओ सम्बन्धी वादविवाद तक सीमित नही रहते, बल्कि इस सिद्धान्त को लेकर प्राय राष्ट्रीयता के प्रश्न भी उठाये जाते है। प्रत्येक एकभाषाभाषी प्रदेश एक राष्ट्र भी होता है, इस धारणा को लेकर हिन्दी को समस्त हिन्दी क्षेत्र की एकमात्र मातृभाषा मानने वाले, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिन्दीभाषी पजाब आदि को एक 'राष्ट्रीय राज्य' में सयुक्त करना चाहते है, दूसरी ओर जनपदीय भाषाओ के अनुयायी कई बार प्रादेशिक भाषाओ के अस्तित्व तक को अस्वीकार करते हुए प्राचीन जनपदीय भाषाओ को पुनर्जीवित करने के लिए उतावले हो उठते है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने तो उत्तर और मध्य भारतीय प्रदेशो में बीसियो ऐसे जनपदीय 'गणराज्यो' की राजधानी और 'राष्ट्रभाषा' सहित सूची तैयार कर ली थी।[1] किन्तु भारत की विशेष परिस्थितियो से आँखे मूँदकर, 'एक भाषा—एक राष्ट्र' के पश्चिमी-यूरोपीय सिद्धान्त को यहाँ लागू नही किया जा सकता।

इतिहास के आधुनिक पूँजीवादी युग में राष्ट्रीयता दो विभिन्न रूपो में उत्पन्न हुई है। इसका पहला रूप इग्लैण्ड और फ्रान्स सरीखे देशो में प्रकट हुआ, जिन्होने राष्ट्रीयता को स्वय अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितियो के प्रोत्साहन से प्राप्त किया क्योकि इन देशो में समाज के पूँजीवादी पुनर्गठन से सामन्ती सम्बन्ध बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गये थे। राष्ट्रीयता का दूसरा रूप उन देशो में व्यक्त हुआ, जहाँ किसी अन्य राज्य के राष्ट्रीय दमन के कारण वे राष्ट्रीय चेतना अनुभव करने के लिये बाध्य हुए। इतिहास के प्रारम्भ से ही जातियाँ विदेशी शासन में रही है, किन्तु उनमें राष्ट्रीयता का उदय आधुनिक पूँजीवादी युग ही में होता है। वाल्टर क्रामर ने आयरलैड के सम्बन्ध में इसका यथार्थ वर्णन करते हुए कहा है : "हेनरी द्वितीय के काल से इग्लैड ने उस (आयरलैड) के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को मिटाना चाहा था। आयरलैड की बोली, साहित्य और वेशभूषा तक को दबाने के प्रयास बार-बार किये गए और बाद में आयरलैड पर अगरेजी आधिपत्य का ठोस आधार रखने की आशा में आयरिश धर्म का भी दमन किया गया। तिस पर भी अगरेजो के आधिपत्य के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में अठारहवीं

१ दे०—मधुकर—जनपद आन्दोलन अङ्क—अप्रल अगस्त १९४४।

शताब्दी के अन्त से पूर्व कुछ उल्लेख नही मिलता • एलिज़ाबेथ के काल में आयरिश आदिम-जातीय समाज का बिल्कुल विनाश होने तक आयरिश विरोध का नेतृत्व आदिम-जातियो के सरदारो और उनके सघो ने किया था। उन्होने अपने किसानो सहित, प्रथमत और चेतनापूर्वक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए युद्ध नही किया था।" बाद में आयरलैंड की जनता के पराधीनता के विरुद्ध सामान्य सघर्ष से उनमे एक राष्ट्रीयता की भावना सजग हुई, यद्यपि उस समय वे दो भाषाएँ—अग्रेजी और इरसे—बोलते थे।

भारत में उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में ऐसी ही परिस्थितियो में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध, जिसने समस्त भारतीय उपमहाद्वीप को दास बना लिया था, मुक्ति-सघर्ष के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ था। इस उपमहाद्वीप की समस्त जनता के सामान्य सघर्ष ने उसमे एकता की भावना पैदा की। एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध जनता के सघर्ष से 'राष्ट्रीयता' की ऐसी भावना आई जो पश्चिमी यूरोप के देशो से भिन्न थी। इसका उल्लेख इसलिए नही किया गया कि भारत का 'बहुराष्ट्रीय राज्य' होने की धारणा का खण्डन किया जाय, बल्कि इस पर बल देने के लिए, कि भारत में विभिन्न 'राष्ट्रो' के विकास की चर्चा भारतीय एकता की परिधि के भीतर ही होनी उचित है। जब कवि इकबाल ने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा' गाया था तब उनकी सामान्य धारणा समस्त भारत देश को आच्छादित करते हुए 'हिन्दुस्तान' की थी जो अग्रेजो के शासन-काल में अस्तित्व में आई। इससे पूर्व हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तानी शब्द एक बहुत सीमित अर्थो मे प्रयुक्त होता था और आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता उससे लक्षित नही थी।

इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है कि ब्रिटिश शासको के आगमन से पूर्व उत्तरी भारत की जनता ऐतिहासिक, सास्कृतिक और भावात्मक रूप से उन समुदायो में विभाजित हो रही थी जो कोई-न-कोई एक भाषा ब्रज, अवधी, पजाबी, मराठी, गुजराती इत्यादि बोलते थे। दूसरी चेतना जो, विन्ध्य के उत्तर में रहने वाली जनता में विद्यमान थी, आर्यावर्त की थी। उत्तरी भारत में ब्रज, अवधी और अन्य प्रामाणिक या 'राष्ट्र' भाषाओ के अकुरण के पूर्व ही आर्यावर्तीयता की भावना आदिम-जातीय और गणगोत्रीय चेतना के ऊपर फैली हुई थी। 'आर्यावर्त' की यह चेतना, जो यूरोप में ऐसी ही महाद्वीपीय भावना से कही अधिक शक्तिशाली थी, सामान्य इतिहास से, समान धार्मिक विश्वासो से, सास्कृतिक साम्य से या प्राचीन नृपो और सम्राटो की चक्रवर्ती होने की धारणा से ही उत्पन्न नही हुई थी। वह विशाल पैमाने पर जनता के

अन्तर-मिश्रण का परिणाम थी जो सिन्धु और गगा की घाटियो के बीच ही नही, बल्कि हिन्दी प्रदेश के बाहर 'आर्यावर्त' के कई क्षेत्रो और गगा की घाटी में भी होता रहा। के० एम० पणिक्कर ने इगित किया है कि गगा की घाटी का भाग निरन्तर विच्छिन्न होता रहा और उसका विस्तार सामान्यतया मालवा और गुजरात में हुआ और बहुत थोडे अशो में बुन्देलखण्ड आदि क्षेत्रो में भी, जो इस प्रकार भारतीय विकास की मुख्य धारा के बाहर रहे।[१] इसने आर्यावर्त की धारणा को हिन्दुस्तानी या हिन्दी प्रदेश की किसी धारणा की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक वास्तविकता प्रदान की है।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक मानवीय इकाई होने की भावना जो एक भाषा द्वारा ग्रथित जन समुदाय में होती है वह हिन्दी क्षेत्र के लोगो में पैदा नही हो सकी, इसके विपरीत ऐसी भावना का अवध, ब्रज, राजपूताना आदि क्षेत्रो में अवश्य ही विकास हुआ। पहले आर्यावर्त की भावना आदिम-जातियो और गणो की भावना से ऊपर तैरती रहती थी। राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' (९१० ई०) में इसी भावना से विंध्य के उत्तर के देश का वर्णन किया है। ब्रज, अवध, पजाब, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि की धारणा बाद में आई जो पूर्वकाल के सामन्ती और आदिम-जातीय सम्बन्धो के ऊपर आच्छादित हो गई। यदि भारत मे भी इग्लैण्ड, फ्रास इत्यादि की ही तरह राष्ट्रीयता का विकास होता तो ये एक भाषी प्रदेश सर्वांगपूर्ण राष्ट्र बन जाते, किन्तु भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के भडकने से पैदा हुई। इस प्रकार समस्त भारत की जनता एक साथ राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक तथ्य और मूल महत्त्व से रजित हो गई। यद्यपि इससे भारत के कई स्थानो में भाषागत राष्ट्रो के पूर्ण विकसित होने मे बाधा आई, किन्तु इसने उनमे एक होने की और सार्वदेशिक तथा बहुभाषी "राष्ट्रीयता" की भावना प्रदान की, जिसने उनके सघर्ष को एकीकृत किया और स्वतन्त्रता के सामान्य ध्येय की प्राप्ति सरल कर दी।

हमारे इतिहास के उपर्युक्त तथ्यो की उपेक्षा कर भारतीय भाषाशास्त्री भारत के राष्ट्र और भाषा सम्बन्धी प्रश्न पर भलीभाँति विचार नही कर सकते। इन समस्याओ की चर्चा भारतीय एकता के चौखटे के भीतर ही करनी होगी, अन्यथा अन्धी देश-हितैषिता और प्रतिगामी राष्ट्रीयता को इन उत्कट भावनाओ का लाभ उठाने का अवसर मिल जायगा। भारतीय एकता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का विचार नवीन और विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा है। राष्ट्रीयता की

१ के० एम० पणिक्कर . जिओग्राफिकल फैक्टर्स इन इण्डियन हिस्ट्री।

भावना राष्ट्रीय स्वाधीनता से आर्थिक प्रजातन्त्र और समाजवाद में परिवर्तित हो रही है। भारतीय राष्ट्र के प्रति भक्ति का अर्थ अधिकाधिक किसानो और दरिद्र वर्गों के प्रति भक्ति से होगा। इससे उनकी बोलचाल की भाषाएँ भी अपनी सुषुप्तावस्था से जाग उठेगी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किया हुआ सामान्य सघर्ष उन्हे अब अच्छा जीवन व्यतीत करने के सामान्य सघर्ष के लिए और भी परस्पर सश्लिष्ट करेगा। भारतीय जनता की नवीन भविष्य की ओर प्रगति मे हिन्दी क्षेत्र के लिए अलग राष्ट्र की भावना वैसी ही अस्तित्वहीन रहेगी जैसे पहले थी।

जब भाषाएँ अपने को पूर्णत विकसित कर लेगी तभी, यदि समस्त भारत के लिए नही तो उत्तरी भारत के लिए, हिन्दी की सामान्य परम्परा के रूप में छिपी शक्तियाँ पहचानी जा सकेगी। यह परम्परा कितनी महान् है यह तभी समझ में आ सकता है जब हम वर्तमान के साथ-साथ भविष्य का भी विचार करे। जैसे जैसे दूरी कम होती जायगी और मानवजाति समाजवाद के मानव-ध्येय की ओर तथा उसके परिणामत भौतिक और आध्यात्मिक प्रचुरता की ओर अग्रसर होगी वैसे-वैसे विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो और उपमहाद्वीपो में भाषाएँ भी सन्निकट होकर एक हो जायँगी। यूरोप में एक स्कन्ध से विकसित होकर सामान्य भाषा के बढने और फलने-फूलने में कई शताब्दियाँ लग सकती हैं। किन्तु उत्तरी भारत की जनता को एक गौण भाषा हिन्दी मिली है जो उनके लिए मातृभाषा से थोडी ही कम है और जो भविष्य में उन सबकी सामान्य बोलचाल की भाषा का आधार बनेगी। हिन्दी और इन भाषाओ की मैत्रीपूर्ण सहकारिता और परस्पर आदान-प्रदान से ही यह कार्य ठीक मार्ग से विचलित हुए बिना शीघ्रतापूर्वक सपन्न हो सकता है।

सस्कृति का इतिहास हमें यह बताता है कि स्वतन्त्रता के अरुणोदय के साथ-साथ भाषा भी विशेष तीव्रता से अपने को समृद्ध बनाना प्रारम्भ कर देती है। कई शताब्दियो के बाद भारत की किसान जनता नये जीवन में नेत्र खोल रही है। यह जिन महान् सृजन-शक्तियो को प्रवाहित करेगी वे उसकी बोलचाल की भाषा में ही भली प्रकार व्याप्त हो सकती है।

अध्याय ११

हिन्दी का भविष्य और भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की समस्या

हिन्दी भाषा के भविष्य के कई पहलू है और यद्यपि वे परस्पर सग्रथित है फिर भी यह आवश्यक है कि उनके द्वारा उपस्थित समस्याओ की अलग-अलग परीक्षा की जाय ताकि उनका उस भ्राति से उद्धार किया जा सके जिसमें वे दिन-ब-दिन गहरी डूबती जा रही है ।

सबसे पहला प्रश्न समस्त भारत के लिए हिन्दी के 'राष्ट्र' या 'राज्य' भाषा होने का और हिन्दी क्षेत्र के बाहर की भाषाओ के साथ उसके सम्बन्ध का है । भारत के सविधान की आठवी अनुसूची में दी गई भाषाओ की सख्या १४ है । इनमें सस्कृत मृतभाषा है और हिन्दी तथा उर्दू एक ही क्षेत्र की मानी जाती है । इस प्रकार सविधान में भारतीय सघ की सरकारी भाषा हिन्दी के अतिरिक्त विभिन्न अ-हिन्दी प्रदेशों के लिए ग्यारह भाषाएँ स्वीकार की गई हैं ।

दूसरा प्रश्न हिन्दी-क्षेत्र की आम बोलचाल की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ और आधुनिक हिन्दी के परस्पर सम्बन्ध का है । यह पहले बताया जा चुका है कि खडी-बोली-हिन्दी हिन्दी-क्षेत्र के समस्त लोगो की मातृभाषा नही है । इन प्रादेशिक भाषाओ को जनता की स्वतन्त्र भाषाओ के रूप मे स्वीकार करने से इनके और हिन्दी के बीच में सीमा स्थिर करने का प्रश्न सामने आ जायगा । इसमें कोई सन्देह नही कि अ-हिन्दी-क्षेत्र के लोगो की अपेक्षा ये लोग हिन्दी के अधिक निकट है, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि इन लोगो की बहुतेरी सास्कृतिक और सामाजिक आवश्यकताएँ है जिनकी सम्पूर्ण पूर्ति केवल हिन्दी द्वारा नही हो सकती । एक बोलचाल की भाषा प्रकृति के साथ मानव के सघर्ष का फल तो है ही, वह उस सघर्ष का साधन भी है, और बिना उसके मानव भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त नही कर सकता । निरन्तर पारस्परिक आदान-प्रदान करने के लिए तथा अपनी सामाजिक

समानता को अभिव्यक्त और समृद्ध करने और उसे आगे बढाने के लिए बोल-चाल की भाषा की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इन भाषाओ के बिना भावो का समृद्धिशाली साम्राज्य और उत्पादी श्रमसाधनो द्वारा उनका सृष्टिमूलक कार्य समाप्त हो जायगा। इसलिए किसी प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र के लोगो के लिए अपनी मातृभाषा समस्त हिन्दी-क्षेत्र की उस सामान्य भाषा से अधिक महत्त्व रखती है जिसके द्वारा वे अन्य प्रादेशिक भाषा भाषियो से बातचीत कर सकते है। निस्संदेह हिन्दी-क्षेत्र के बहुत से लोगो ने खडी-बोली हिन्दी के साथ न्यूनाधिक परिचय प्राप्त कर लिया है और इसका सरक्षण और विस्तार अवश्य होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि ये प्रादेशिक भाषाएँ और खडी बोली हिन्दी कैसे साथ-साथ और सामजस्यपूर्वक आगे बढें और कैसे वे परस्पर सहायक हो।

तीसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी को कैसे बोलचाल की भाषा, खडी बोली या हिन्दुस्तानी, के निकट लाया जाय और इस शताब्दी के प्रारम्भ में जो प्रथा शुरू हुई, जिससे आधुनिक या उच्च हिन्दी अधिकाधिक कृत्रिम होती गई, उसका कैसे प्रतिकार किया जाय। आज की उच्च-हिन्दी कही किसी की बोलचाल की भाषा नही रह गई है। एक कृत्रिम भाषा अन्तत क्षीण होकर समाप्त हो जाती है। अतएव हिन्दी का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि उसके कृत्रिम तत्त्वो में कमी की जाय और बोलचाल के तत्त्वो की वृद्धि की जाय। सच तो यह है कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमारा भविष्य और इस देश में प्रजातन्त्रवाद का विकास दोनो ही का इस समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनता से अधिकाधिक दूर होती हुई भाषा जनता के शत्रुओ के हाथ में शक्तिशाली अस्त्र हो जाती है। पहले ही आधुनिक हिन्दी की उत्तरोत्तर कृत्रिमता से हमारा सास्कृतिक जीवन निरन्तर सूखता जा रहा है।

भारत के सविधान में हिन्दी को जो स्थान दिया गया है उस पर हमें पूर्णतया दृढ रहना आवश्यक है। अनुच्छेद ३४३ (१) के अन्तर्गत भारत के सविधान में हिन्दी को भारत सघ की 'सरकारी भाषा' माना गया है न कि भारत की राष्ट्रभाषा। 'राष्ट्रभाषा' और 'सरकारी भाषा' में भेद केवल तर्क की दृष्टि से ही नही है, यह भारत का सविधान बनाने वाली सविधान परिषद् के एक सदस्य श्री कृष्णस्वामी भारती द्वारा 'इण्डियन एक्सप्रेस' मद्रास को लिखे गये निम्न पत्र से स्पष्ट हो जायगा

"मैने १९ तारीख के आपके दैनिक में श्री जी० वी० मावलकर का लेख, जिसका शीर्षक 'हिन्दी पिलग्रिमेज टु साऊथ' (दक्षिण में हिन्दी की तीर्थयात्रा) था, काफी रुचि और ध्यान से पढा। श्री मावलकर महान् ज्ञानी और पूर्ण

विद्वान् माने जाते है । इसलिये मुझे यह स्वीकार करते हुए अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उन्होने कुछ बातें ऐसी कही है जिनको सुधारना सत्य और ज्ञान के विचार से उचित है । श्री मावलकर कहते है कि देवनागरी लिपि में हिन्दी को हमारे सविधान ने 'राष्ट्रभाषा' स्वीकार कर लिया है । मै उन्हे नम्रता के साथ सूचित करना चाहता हूँ कि यह ठीक नही है । भारत का सविधान हिन्दी को राष्ट्रभाषा कही पर भी नही कहता । अनुच्छेद में इतना भर कहा गया है कि 'सघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी' ।

"मुझे 'राष्ट्र' और 'सरकारी' शब्दो में, विशेषता को लेकर उनके आशय और भेद बताने की आवश्यकता नही है। एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से जिसने सक्रिय रूप से सविधान बनाने में सहायता दी है मै कहना चाहता हूँ कि हम लोगो ने हिन्दी के लिये 'राष्ट्र' भाषा का प्रयोग जानकर नही किया, क्योकि वह उस अनुच्छेद में उल्लिखित पद्धति के प्रसग मे ठीक नही बैठ रहा था और क्योकि सविधान मे न्यायानुसार विभिन्न राज्यो को अधिकार दिया गया है कि वे अपने लिए किसी भी प्रादेशिक भाषा को राज्य भाषा बना सकते है । जब भारत का चित्र ऐसा होगा कि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाएँ राज्य भाषाएँ बना लेंगे तब हिन्दी किसी कल्पना से भी राष्ट्रभाषा नही कही जा सकती ।"[१]

हिन्दी को भारत सघ की केवल सरकारी भाषा मान लेने से दक्षिण भारत में हिन्दी के बढते विरोध के यदि सब नही तो एक मुख्य कारण दूर हो जायगा । हिन्दी क्षेत्र के लोग इस नित्य बढते विरोध के बारे में अधिक नही जानते । और यह विरोध केवल दक्षिण तक ही सीमित नही है । इस विरोध के समझने में असफल रहने तथा उसके कारणो को दूर न कर सकने से देश की अपार हानि हो सकती है और इससे हमारी अगरेजी भाषा के प्रति दासता अक्षुण्ण बनी रहेगी ।

अन्नामलाई और काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' के सम्मुख कहा था "एक मद्रासी तमिल, तेलुगू, कन्नड तथा मलयाली द्वारा शिक्षण प्राप्त करता है । उसके लिए हिन्दी उतनी ही विदेशी है जितनी अगरेजी, फ्रेंच या रूसी । में आपसे ठीक कह रहा हूँ कि आप एक मदरासी को कभी भी हिन्दी नही सिखा सकते । इस विषय पर लिखने वाले अधिकाश लोग इस दृष्टिकोण

---

१ इण्डियन एक्सप्रेस, मद्रास—१ अक्टूबर १९५४ ।

को नहीं समझते।"[1]

डॉ० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदालियर, कुलपति मद्रास विश्वविद्यालय ने भी मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल में वक्तव्य देते हुए कहा था : "दक्षिण में २००० हिन्दी पण्डितों के भेजने की भारत सरकार की परेशानी मेरी समझ में नहीं आती, जबकि उसने संविधान के इस निर्देश पर कि १९६० से पहले अनिवार्य सार्वदेशिक निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय कुछ भी नहीं किया। वह अंगरेजी को देश से इसलिए हटाना चाहती है कि वह बालक के लिए अस्वाभाविक है। क्या यह समझने के लिए कोई कारण हो सकता है कि तमिलनाड, मालाबार और आंध्र के बालकों के लिए अंगरेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक स्वाभाविक है ?"[2] १९६० से संघ लोकसेवा परीक्षाओं में हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में रखने के सुझाव मात्र पर ही हिन्दी-क्षेत्र के बाहर विरोध का एक तूफान उठ खड़ा हुआ है और ऐसा लगता है कि पन्द्रह वर्षों की नियत अवधि में अंगरेजी के स्थान पर हिन्दी को लाना सरल नहीं होगा। हमारे राष्ट्रीय जीवन पर इस सब का कैसा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ रहा है यह श्री हनुमन्थैया, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री मैसूर के निम्न वक्तव्य से, जो उन्होंने मद्रास में १८ सितम्बर १९५४ को दिया, स्पष्ट हो जायगा :

"आखिर हम ज्ञान और बोध चाहते हैं और अपने मस्तिष्क तथा दृष्टिकोण को उदार बनाने के इच्छुक हैं। हमारा इससे क्या आता-जाता है कि ये लाभ हमें किस भाषा द्वारा मिलते हैं ? अन्य भाषाओं के प्रति अनादर प्रकट किये बिना, यह कहा जा सकता है कि अंगरेजी एक ऐसी भाषा है जो हमें ये समस्त लाभ प्रदान कर सकती है। अब जब हम अंगरेजी के माध्यम द्वारा काम करते हैं तब तेलुगू, कन्नड़ अथवा तमिल के रूप में नहीं सोचते। हमारी प्रवृत्ति प्रथमतः और अन्ततः भारतीय के रूप में सोचने की रहती है और उसके आगे एक पग और बढ़ाना हमारे भारतीय दर्शन का निचोड़ है, जो संस्कृत पुस्तकों में भी निहित है, कि हमें समस्त संसार को एक कुटुम्ब मानना चाहिए। यदि हम उक्त दृष्टिकोण का विकास करें तो हम अंगरेजी भाषा के प्रति सहिष्णु हो सकते हैं।"[3]

---

१. रिपोर्ट आव दि यूनीवर्सिटी एज्युकेशन कमेटी, दिल्ली १९५१, संख्या २ भाग २।
२. डेली स्टेट्समैन, नई दिल्ली, ६ अगस्त १९५५।
३. "प्राब्लम आव ए नेशनल आर आफिशियल लैंग्वेज इन इण्डिया" (तमिल कल्चर, अप्रैल, १९५४) से उद्धृत।

इस समस्या को हल करने के लिए एक सुझाव यह भी दिया गया है कि भारत में दो सरकारी भाषाएँ होनी चाहिएँ। एक उत्तर की सस्कृतमयी भाषा और दूसरी दक्षिण की भाषाओ की प्रतिनिधि एक द्राविड भाषा। इस सुझाव पर श्री ए० सेन्थामिलन ने टिप्पणी करते हुए कहा है "आदर्श हल तो यह होगा कि भारत में बोली जाने वाली समस्त भाषाओ को केन्द्र की सरकारी भाषा मान लिया जाय। हम देख चुके है कि कैसे अन्य बहुभाषी राज्यो, जैसे कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, बेलजियम, स्विटजरलैण्ड तथा निकट के श्री लका और पाकिस्तान ने इस प्रत्यक्ष हल को अपना लिया है। पाकिस्तान ने एक ही भाषा को 'सरकारी भाषा' के रूप मे थोपना चाहा था, किन्तु यह प्रयोग असफल रहा और जल्दी ही त्याग दिया गया।"

राजभाषा आयोग को दिये गये अपने ज्ञापन में बग साहित्य परिषद् ने भी विदेशो के उदाहरण देते हुए हिन्दी के भारत की एकमात्र सरकारी भाषा होने का विरोध किया है और उत्तरभारत की सस्कृतमयी भाषाओ के प्रतिनिधित्व के लिये हिन्दी के स्थान पर बगला का दावा पेश किया है, क्योकि उनके विचार मे हिन्दी अभी एक अप्रौढ भाषा है और इसे बोलने वालो की वास्तविक सख्या पाँच करोड से भी कम है।[१]

यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत की एकता स्वेच्छा से सम्पन्न[२] हो, और यहाँ किसी भी क्षेत्र के लोगो के मन में किसी प्रकार का भय या थोडी सी भी दुर्भावना नही रहनी चाहिए, तथा शीघ्रातिशीघ्र भारतीय जनता को अगरेजी भाषा से सब प्रकार की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि एक दक्षिणभारतीय भाषा को दूसरी 'सरकारी भाषा' के रूप में ग्रहण करने से हमें अगरेजी के दासत्व से छुटकारा प्राप्त करने मे सहायता मिलती है तो उत्तरीभारत में सभी को इसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु दक्षिण भारत में किसी भी द्राविड भाषा का प्रमुख स्थान नही है, इससे यह सुझाव लाभप्रद नही मालूम पडता।

द्राविड लोगो के भय को निर्मूल करने का और हिन्दी के सरकारी भाषा होने के कारण अहिन्दी क्षेत्रो के विद्यार्थियो की कठिनाइयो को दूर

१. साप्ताहिक विजिल, कलकत्ता, १७ दिसम्बर १९५५।

२ मैसूर के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री हनुमन्थैया ने २३ अगस्त, १९५५ के एक प्रेस-सम्मेलन मे कहा था : "हिन्दी के समर्थक उसे इस हद तक हम पर लादना चाहते है कि देश की एकता सकट में पड सकती है।" (स्टेट्समैन, न्यू देहली, अगस्त २४, १९५५)।

करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि समस्त केन्द्रीय परीक्षाओ में जहाँ हिन्दी आवश्यक विषय हो वहाँ किसी अन्य भारतीय भाषा को भी अनिवार्य कर दिया जाय। इस बात के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए कि उत्तरी भारत में वर्तमान दक्षिण भारतीय भाषाओ का ज्ञान बढाया जाय। आजकल उत्तरी-भारत के बहुत से शिक्षित लोग इतना भी नही जानते कि वहाँ केवल एक 'मद्रासी भाषा' नही चार द्राविड भाषाएँ है और भारत में द्राविड लोगो की जनसख्या लगभग ३० प्रतिशत है। भारत की एकता को स्थिर रखने और अगरेजी भाषा की दासता से मुक्ति पाने के उपाय बताते हुए भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने १२ अगस्त, १९५५ को नई दिल्ली में 'हिन्दी प्रदर्शनी' के उद्घाटन के अवसर पर कहा था

"राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार कुछ कामकाज के ठीक निर्धारित क्षेत्रो तक ही सीमित रहेगा, अन्य भाषाओ का अपने क्षेत्रो मे पूर्ण स्वतन्त्र आधिपत्य रहेगा। जहाँ तक हो सके अपनी मातृभाषा के सीखने के अतिरिक्त दूसरी भाषा के सीखने का बोझ भारत के समस्त जनो पर समान भाव से बाँट देना चाहिए। इसी कारण से मैंने बहुधा इस बात का समर्थन किया है कि जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका कर्तव्य है कि वे कम-से-कम एक अन्य क्षेत्रीय भाषा सीखे, मेरी दृष्टि मे तो और भी अच्छा हो यदि यह एक दक्षिण भारतीय भाषा हो।"[1]

आजकल उत्तर में दक्षिण भारतीय भाषाओ की जानकारी प्राप्त करने पर उचित जोर नही दिया जा रहा।[2] अगरेजी से हिन्दी में परिवर्तन से पूर्व ही ऐसा करना होगा, ताकि दक्षिण भारत में इसका विरोध न रहे।

प्रकृति ने भारत को एक-देश का रूप नही दिया है। प्राकृतिक भूगोल का यह तथ्य अगरेजो के आने से पूर्व भारत के राजनीतिक भूगोल से प्रकट हो जाता है। भारत की वर्तमान एकता अगरेजो द्वारा छोडी गई कुछ बहुमूल्य वस्तुओ में से एक है। यह केवल उत्तर से दक्षिण को भाषा और सस्कृति के एकमार्गी गमन से, जो भारतीय इतिहास की विशिष्टता रही है, सुरक्षित नही रखा जा सकता। अब दक्षिण भारतीय भाषाओ को भी उत्तर की तीर्थयात्रा

१ डेली स्टेट्समैन, नई दिल्ली, १३ अगस्त १९५५।

२. मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्धित ६५ कालेजो में से ५० कालेज हिन्दी की वैकल्पिक विषय के रूप में शिक्षा दे रहे है, किन्तु हिन्दी-क्षेत्र में सभवत: एक भी कालेज ऐसा नहीं है जहाँ किसी दक्षिण भारतीय भाषा के सिखाने का प्रबन्ध हो।

प्रादेशिक भाषाओ का प्रश्न इसलिए उठाया गया है कि यदि ये भाषाएँ यो ही पिछडी रहेगी तो आधुनिक हिन्दी का कोई भी भविष्य नही हो सकता। साहित्यिक भाषाओ के रूप में जब ये भाषाएँ पूरे तौर से फल-फूल उठेगी तभी हिन्दी को जीते-जागते मुहावरो और हर प्रकार से और हर प्रयोजन के लिए बोलचाल के शब्दो का अक्षय भण्डार प्राप्त होगा। फैलन की हिन्दुस्तानी इग्लिश डिक्शनरी का जो विवरण १८७० में प्रकाशित हुआ था उसमें लिखा था : "भाषा का धन आम बोलचाल की भाषा में ही वर्तमान हो सकता है। यह कितनी समृद्ध और व्यञ्जक हो सकती है इसे वे ही अच्छी तरह से जानते है जो एशिया के कल्पनाशील और भावुक लोगो की प्रतिदिन बोली जाने वाली भाषा के रग-बिरगे रूपो से परिचित है। हमारे शब्दकोषो में इनके जीते-जागते उद्‌गारो का नितान्त अभाव है।"[1]

आज उर्दू शेरो-शायरी के सामने खडी-बोली-हिन्दी की कविता हेच मानी जाती है, किन्तु उर्दू से भी कही अधिक निखार ब्रजभाषा आदि में है, वह उर्दू के लेखको ने स्वय स्वीकार किया है। उर्दू के एक महान् लेखक मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद 'उर्दू' और 'भाषा' की अभिव्यजन शक्ति की तुलना करते हुए 'आबे हयात' में लिखते है "फारसी और उर्दू की इन्शा-परदाजी (लेखन-कला) में जो दुशवारी है और हिन्दी की इन्शा में जो आसानी है, इसमे एक बारीक नुकना गौर के लायक है। वह यह है कि भाषा जबान जिस शै का बयान करती है उसकी कैफियत हमें इन खदो-खाल से समझाती है जो खास इसी शै के देखने, सुनने, सूँघने, चखने या छूने से हालिल होती है। इस बयान में अगरचे मुबालगा (अत्युक्ति) के जोर या जोशो खरोश की धूमधाम नही होती मगर सुनने वाले को जो असल शै देखने से मजा आता वह सुनने से आ जाता है।"

प्रादेशिक भाषाओ के समृद्धिशाली शब्दभण्डार का विवेचन करते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते है "उनके शब्दभण्डार में से अनन्त रत्न हिन्दी भाषा के कोष को धनी बना सकते है। अनेक अद्‌भुत प्रत्यय और धातुएँ प्रत्येक बोली में है। हर एक बोली का अपना-अपना धातुपाठ है। उसका सग्रह और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन होना आवश्यक है। प्राचीन कुरु जनपद के अन्तर्गत मेरठ के आसपास बोली जाने वाली भाषा में डेढ सहस्र ऐसी धातुएँ है। उनमें कितनी ही ऐसी है जो फिर हिन्दी भाषा के लिए उपयोगी हो सकती है। बहुत सी धातुओ का सम्बन्ध प्राकृत और अपभ्रंश की

१. 'मधुकर', जनपद आन्दोलन अङ्क, अप्रैल-अगस्त, १९४४।

धातुओ से पाया जायगा । बहुत सी धातुएँ ऐसी है जो जनपद विशेषो मे ही सुरक्षित रह गई है ।"

मौलवी जफरुल रहमान देहलवी द्वारा सपादित विभिन्न 'प्रोफेशनल टर्मस' (व्यावसायिक पदो) की शब्दावलियो में, जिसके आठ भाग अजुमने तरक्की उर्दू-देहली ने भारत के विभाजन से पूर्व प्रकाशित किए थे, खडी बोली क्षेत्र के लगभग २५००० बोलचाल के शब्द है । किन्तु इनमे से अधिकाश को हिन्दी और उर्दू के कोषो में कोई स्थान नही मिला है । जैसा ऊपर कहा गया है हिन्दी के बोलचाल के आधार को समृद्ध बनाना तथा उसके कृत्रिम तत्त्वो को दूर करना उतना कठिन नही है जितना समझा जाता है । बहुत से धातुरूप, जिनके लिए हिन्दी-लेखक सस्कृत की शरण लेते है तद्भव रूपो मे खडी बोली और अन्य प्रादेशिक भाषाओ में, अपने समृद्धिशाली और सुन्दरतम अर्थों में, जो उन्हे विगत दो या तीन सहस्राब्दियो में मिले है, उपलब्ध है । ये धातुएँ, अपनी सतत परिवर्तनशील परिस्थितियो में नवीन जीवन-रस ग्रहण करती हुई निरन्तर नवीन कोपलो और शाखाओ की सृष्टि करती रही है । इस प्रकार बोल-चाल की भाषाओ ने एक ही धातु से बहुत बडी सख्या में शब्द प्राप्त किए है, तथा प्राय बडी सख्या मे उनके गौण अर्थो का भी विकास किया है, जिससे प्रत्येक साधारण विचार के विशिष्ट पहलू में आशिक परिवर्तन तक के लिए विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ उपलब्ध हुई है, प्रत्येक शब्द का अपना-अपना सारगभित अर्थ और उचित स्थान है जहाँ कोई दूसरा शब्द ठीक नही बैठ सकता ।

ये प्रादेशिक भाषाएँ वैज्ञानिक शब्दावली के लिए भी समान रूप से हिन्दी को लाभदायक हो सकती है । पिचहत्तर वर्ष पूर्व फैलन ने इस ओर सकेत करते हुए लिखा था "जनता की यह भाषा समस्त साहित्यिक और वैज्ञानिक प्रयोजनो के लिए पर्याप्त मात्रा मे निश्चित, प्रचुर और व्यजक है, तथा ज्ञान के व्यापक, प्रभावी और तीव्र प्रसारण के लिए तथा जनता के नैतिक और सामा-जिक उत्थान के लिए सर्वोत्तम माध्यम है ।"[1] बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि हिन्दी को सस्कृतमय बना देने से वह भारत की अन्य भाषाओ के निकट आ जायेगी, क्योकि उन सबका यही एकमात्र आधार है, किन्तु यह अत्यन्त भ्रामक है । मद्रास की दक्षिणभारत हिन्दी प्रचार सभा को सस्कृतमयी हिन्दी के स्थान पर सरल हिन्दी या हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए बाध्य होना पडा, क्योकि दक्षिण भारतीय विद्यार्थियो ने उस भाषा को सीखने के लि आग्रह किया जिसमें वे अपने देशवासियो से बातचीत कर सकें ।

१ दे० फैलन रचित, "न्यू हिन्दुस्तानी इगलिश डिक्शनरी" की भूमिका ।

हिन्दी को एक जीवित भाषा की प्राणदायिनी शक्ति जिन साधनो से दी जा सकती है वे ये है—

प्रथम, बोलचाल में न आने वाले समस्त तत्सम शब्दो का हिन्दी से बहिष्कार और उन तद्भव शब्दो के असीम भण्डार से उसे समृद्ध बनाना जो खडी बोली क्षेत्र में आज भी सुरक्षित है। खडी बोली के क्षेत्र में स्त्री-पुरुषो की जबान पर बसने वाली सारगर्भित और स्वच्छ बोलचाल की भाषा ग्रहण कर और इस जीवित भाषा के नित्य वर्धमान और अक्षय मुहावरो से अपना पोषण कर हिन्दी पुन स्वाभाविक और सरल हो सकती है। हिन्दी में कृत्रिमता तद्भव से तत्सम में परिवर्तन के कारण आई है और जब तक इसके विपरीत प्रवृत्ति नही अपनाई जायगी तब तक हिन्दी आम बोलचाल की भाषा के निकट नही आ सकेगी।

दूसरे, प्रादेशिक भाषाओ की पवित्र सरस्वती-सरिताओ को, जो इस समय हिन्दी से अलक्षित प्रवाहित हो रही है, हिन्दी से सगम कर उनके मीठे एव पावन जल से हिन्दी में ताजगी, विस्तार और समृद्धि लानी चाहिए। इसी प्रकार धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषाओ को हिन्दी में विलीन करने से ही एक या दो शताब्दियो, या सम्भवत थोडे अधिक काल में, समस्त हिन्दी-क्षेत्र के लिए एक आम बोलचाल की भाषा का विकास हो सकता है।

हम अपने कर्तव्य का पालन करे या न करे हिन्दी-क्षेत्र के निवासियो के समान ही हिन्दी भाषा का भविष्य भी महान् और उज्ज्वल है। यहाँ की जनता ने ससार की महानतम सस्कृति की रचना की है और जब वह अपनी किसमत को अपने हाथो में ले लेगी तो वह पहले से कही अधिक उत्तमतर और उज्ज्वलतर सभ्यता का निर्माण करने की इच्छा और शक्ति प्रकट करेगी। जब राष्ट्र एक नवीन जीवन प्रारम्भ करते है, जैसा भारत निश्चित रूप में अब करेगा, तब उनकी मनीषा और चिन्तन में अभूतपूर्व उत्तेजना आ जाती है। तब नवीन विचारो का स्फुरण भी क्षिप्र हो जाना है, और वे नवीन सृजनात्मकता और चेतनत्व प्राप्त कर लेते है। भाषाएँ भी तभी विशिष्ट तीव्रता के साथ पनपने लगती है और शताब्दियो की पुरानी परतें उतार फेकती है। ऐसे सक्रातिकालीन अवसरो पर जनता असख्यो प्रतिभावान् व्यक्तियो को जन्म देती है जो अपने सन्निकट अक्षय शब्द-भण्डार के सहारे नवोदित विचारो की शक्ति तथा जीवित भाषा के प्रखर सामर्थ्य के जौहर दिखाते है। एक दिन हिन्दी भी इसी प्रकार जनता की भाषा हो जायगी और उसकी महत्ता और क्षमता को ग्रहण कर लेगी। हम में से जिनका हिन्दी भाषा के प्रति स्नेह है, उन्हे ऐसी घडी निकट लाने की सतत चेष्टा करनी चाहिए।

अध्याय १२

लिपि का प्रश्न

देवनागरी लिपि सविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) द्वारा भारत की सरकारी लिपि निर्धारित की जा चुकी है, तिस पर भी उस के गुणो और अवगुणो की चर्चा में तीव्रता अभी तक कम नही हुई है। रोमन लिपि और देवनागरी लिपि के वादविवाद[1] में तेलुगू लिपि[2] भी अब आ गई है जिसका यह कहकर

१ सु० कु० चटर्जी : "लिपि के बारे में हमारी सरकार ने घोषित कर दिया है कि भारतीय लिपि—देवनागरी—हिन्दी के लिए उचित है और यही सरकारी लिपि रहेगी। रोमन लिपि को कोई सरकारी समर्थन भी नहीं दिया गया है। फिर भी एक शक्तिशाली वर्ग ऐसा है, विशेषकर बगाल में, जो समस्त भारतीय भाषाओ के लिए रोमन लिपि चाहता है। यद्यपि वह आजकल सक्रिय नहीं है किन्तु इसमें कई सुविख्यात वैज्ञानिक तथा विद्वान् है। मै स्वय रोमन लिपि समिति से उसके सभापति की हैसियत से सम्बन्धित हूँ"—(दि इण्डोएशियन कल्चर—भाग ४ न० २, अक्टूबर १९५५)

२. प्रबुद्धनाथ चटर्जी "किन्तु देवनागरी के लिए कौनसी पवित्रता है? देवनागरी के अधिकाश अक्षरो के कोणीय रूप होते है जिससे वे शीघ्र नहीं लिखे जा सकते। अक्षरो के रूप सरल न होकर बेढगे होते है। रोमन और तेलुगू की अपेक्षा देवनागरी लिखने में थकावट जल्दी आ जाती है। यदि अपने आकार में तथा संयुक्ताक्षरो की प्रणाली में तेलुगू लिपि थोडा और सरल कर दी जाय तथा उसके ऊपर और नीचे की अलकृत रेखाएँ हटा दी जाय तब वह यान्त्रिक विधियो के लिए निकटत रोमन लिपि के समान ही उपयोगी हो जायगी। तेलुगू लिपि को भारत की सामान्य लिपि के रूप मे ग्रहण करने के लिए एक और विचार यह भी है कि वह सभवत देश के उत्तरी और दक्षिणी भागो में एकता को प्रोत्साहन देगी"। (नेशनल स्क्रिप्ट एण्ड न्यूमरलस्—कलकत्ता रिव्यू, दिसम्बर १९५४)।

समर्थन किया जा रहा है कि वह ही एक ऐसी भारतीय लिपि है जो रोमन लिपि के समान छपाई इत्यादि के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

भाषा से अलग करके लिपि के प्रश्न पर विचार करना भूल होगी। भाषा की प्रकृति और आत्मा का परिवर्तन किये बिना पुरानी लिपि हटाकर नई लिपि अपनाई नही जा सकती। बहुधा तुर्की के कमालपाशा का उदाहरण दिया जाता है, जिन्होने अरबी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को अपनाया था। इस तथ्य के अतिरिक्त कि अरबी लिपि वास्तव में तुर्की की अपनी न थी, इस बात को भी भुलाना न चाहिए कि तुर्की को अतीत से एक हद तक सम्बन्ध-विच्छेद करना अभिप्रेत था और अरबी लिपि से रोमन में परिवर्तन उसी का प्रतीक और साधन था। भारत में कोई भी अतीत से विच्छेद नही चाहता। अपनी सस्कृति की अनुपम परम्परा का हमें अभिमान है और हम उसे सुदृढ रखना चाहते हैं तथा उसके सर्वोच्च तत्वो को समृद्ध बनाने और उनका विकास करने के लिए उत्सुक हैं।

इसके अतिरिक्त जैसी उत्तरी भारत के लोगो की आज स्थिति है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि सरकारी तौर पर लिपि के परिवर्तन का उन पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। सरकारी स्तर पर चाहे जो भी लिपि हो वे देवनागरी से चिपटे रहेगे, जैसा कि उन्होने गत शताब्दियो मे किया है। सामाजिक स्थितियो को बिलकुल परिवर्तित किये बिना और हमारी सांस्कृतिक परम्पराओ की ग्रामप्रधानता के रहते हुए लिपि में परिवर्तन करना वर्तमान समस्याओ को और जटिल ही नही कर देगा वरन् अनेक नवीन समस्याएँ को भी उपस्थित कर देगा। जब तक औद्योगीकरण के बाद भारत की आधी से अधिक जनसख्या ग्रामीण क्षेत्रो को छोडकर नगरो मे रहने नही लग जायगी तब तक सरकारी लिपि मे परिवर्तन का प्रभाव साधारण जनता पर अधिक नही हो सकता। मैथिली भाषा की कैथी लिपि कभी भी शासन द्वारा स्वीकृत नही की गई और पजाबी भाषा की गुरुमुखी लिपि ने अभी हाल ही मे सरकारी मान्यता प्राप्त की है, किन्तु इन तमाम शताब्दियो में सरकारी लिपि में परिवर्तनो से अप्रभावित ये लोग अपनी लिपि का ही प्रयोग करते रहे है।

इसमें सन्देह नही कि रोमन लिपि सरल है और भारत की समस्त वर्णमालाओ से वह अधिक उपयोगी है। रोमन लिपि के २६ वर्ण मुद्रण, शिक्षण इत्यादि के लिए अधिक सुविधाजनक है। रोमन लिपि की तुलना में देवनागरी तथा अन्य भारतीय लिपियो में छपाई अधिक कष्टदायक है। वर्णों के बाहुल्य और सयोजन की प्रणाली ने भारतीय लिपियो का सीखना कठिन

बना दिया है। किन्तु क्या ये लिपियाँ सरल नही की जा सकती ? क्या सयुक्ताक्षर और शब्दो के ऊपर-नीचे मात्राओ के प्रयोग समाप्त नही किए जा सकते ? रोमन लिपि के पाँच स्वरो के स्थान पर देवनागरी के १० स्वरो को रखते हुए भी क्या इस की वर्णमाला सक्षिप्त करके ३० अक्षरो की नही बनाई जा सकती ?

देवनागरी के विरुद्ध और रोमन लिपि के पक्ष मे जो युक्तियाँ दी जाती है उनकी सविस्तर परीक्षा यहाँ आवश्यक नही जान पडती। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी दोनो लिपियो पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं "परन्तु देवनागरी के पक्ष में और रोमन के विरोध में इतना सब कुछ होते हुए भी मै इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ कि आवश्यकतानुसार परिवर्तित तथा अनुक्रम से बदली हुई रोमन लिपि ही हिन्दुस्तानी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के लिए उपयुक्त हो सकती है। देवनागरी लिपि अपने वर्णों की अपेक्षाकृत जटिलता, सयुक्ताक्षरो के उपयोग तथा लिखने के लिए एक ध्वनिनिष्ठ न होकर एकाधिक ध्वनिमय पद्धति के कारण पीछे रह जाती है। आधुनिक देवनागरी लिपि में छपाई के लिए लगभग ४०० से अधिक विशेष प्रकार के टाइपो की आवश्यकता पडती है। इस भारतीय रोमन के व्यवहार से वह सख्या घटकर केवल ५० के लगभग रह जायगी।"[1]

श्री मदनगोपाल देवनागरी के विरुद्ध तर्क देते हुए कहते है "देवनागरी ७५ प्रतिशत अधिक स्थान लेती है। वह लिखने के लिए ५० प्रतिशत अधिक समय लेती है। हमारी सरकार का वेतन खर्च ५० प्रतिशत और लेखन-सामग्री का खर्च ७५ प्रतिशत अधिक हो जायगा। पुस्तको के मूल्य ७५ प्रतिशत अधिक बढ जायँगे। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि समस्त शिक्षा और सस्कृति अधिक महँगी हो जायगी। हिन्दी पर अन्तिम अध्याय लिखते समय मुझे ऐसा लगा कि देवनागरी लिखने में केवल अधिक समय और स्थान ही नही लेती उसे पढने में भी अधिक समय लगता है। यदि सयोगवश मेरा अन्तिम अनुमान ठीक हो तो यह विषय अत्यधिक गभीर हो जाता है। इससे केवल धन-हानि ही नही समय की हानि और परिणामतः सस्कृति की हानि भी होगी।"[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सरलीकरण से देवनागरी लिपि के उपयुक्त दुर्गुण दूर या कम किए जा सकते है ? रोमन लिपि अपनाने से हिन्दी

१ सु० कु० चटर्जी : इण्डो-आर्यन् एण्ड हिन्दी।

२ मदनगोपाल : दिस हिन्दी एण्ड देवनागरी—मैट्रोपोलिटन बुक क०, दरियागज, देहली।

लिखने के ढग में परिवर्तन करने पडेंगे, क्या आवश्यकता पडने पर ऐसा देवनागरी में नही किया जा सकता, ताकि इसे सरल बनाया जा सके ?

प्रथम, रोमन लिपि को ग्रहण करने से व्यजनो के सयुक्तीकरण का पूर्णत: बहिष्कार करना होगा। ये सयुक्ताक्षर आवश्यकता पडने पर देवनागरी से भी हटाये जा सकते हैं और छपाई की परेशानी से बचा जा सकता है।

द्वितीय, रोमन लिपि अपनाने पर ऊपर-नीचे, दाये बाये लगाई जाने वाली मात्राओ को हटाना होगा और उनके स्थान पर स्वर वर्णों का प्रयोग करना होगा। आवश्यकता पडने पर यह देवनागरी की छपाई में भी किया जा सकता है, इससे रोमन की समस्त सुविधाएँ देवनागरी में लाई जा सकती हैं।

तृतीय, रोमन लिपि में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, ड, ढ, थ, ध, फ, भ और श के लिए अक्षर नही हैं। उसमें इन अक्षरो के लिए नवीन रूप स्थिर करने होगे और अल्पप्राण अक्षरो में h लगाकर महाप्राण अक्षर बनाने होगे। देवनागरी लिपि में भी इस प्रकार 'ह्' लगाकर महाप्राण अक्षर बनाये जा सकते हैं। महाप्राण ध्वनि वाले विशेष अक्षरो को दूर कर देवनागरी वर्णमाला से १२ अक्षर कम किये जा सकते हैं। इसी प्रकार देवनागरी में एक 'न' रखकर (आवश्यकतानुसार अनुनासिक 'न' के लिए बिन्दु रखा जा सकता है) रोमन लिपि की तरह अन्य तीन अक्षर दूर किए जा सकते हैं। इससे देवनागरी में व्यजनो की सख्या कम होकर १८ रह जायगी, जो १० स्वरो के साथ, रोमन लिपि के २६ अक्षरो के स्थान पर, २८ अक्षरो का योग रखेगी। रोमन में केवल ५ स्वर ह और भारतीय विशिष्ट व्यजनो के लिए कोई भी अक्षर नही है। इस रूपान्तर से देवनागरी को छपाई इत्यादि की वे समस्त सुविधाएँ मिल जायँगी जो इस समय रोमन लिपि में हैं।

यह आवश्यक नही कि मुद्रण के सब सुधारो का उपयोग लिखने में भी किया जाय। लेखन में मात्राओ का व्यवहार अत्यन्त सुविधाजनक है पर मुद्रण में उसे हटाया जा सकता है। उपर्युक्त सुझाव देवनागरी लिपि को रोमन में बदल देने के प्रस्ताव से हमारे सामने आते हैं। विषय का ठीक प्रकार से अध्ययन करने पर सुधार की बहुत सी सभावनाएँ स्पष्ट हो जायँगी और ससार की सर्वोच्च लिपियो की भाँति देवनागरी भी पूरी तरह से उपयुक्त और योग्य बनाई जा सकेगी। इसके लिए एक ऐसी "अनुसधान समिति" की स्थापना की आवश्यकता होगी, जैसी कि चीन के जन-गणराज्य ने चीनी राष्ट्रीय[1]

१ दे० . दि प्राब्लम आव रिफार्मिंग दि चाइनीज़ रिटिन लैंग्वेज—पीपुल्स चाइना, पेंकिंग, नं० १०, १९५४।

लिपि में सुधार करने के लिए स्थापित की है।

भारत के दीर्घकालीन इतिहास में देवनागरी ही सब कालो में उसकी एकमात्र लिपि नही रही और न हमारे प्राचीन देश का समस्त साहित्य उसमें सुरक्षित रहा है। बौद्धो के 'ललित विस्तार' में ६४ लिपियो का उल्लेख है जो महात्मा बुद्ध को सिखाई गई थी और इनमें देवनागरी या उससे पहले की ब्राह्मी लिपि का उल्लेख नही है। जायसी ने 'पदमावत' फारसी लिपि में लिखी थी। और भी बहुत सी प्राचीन हिन्दी कृतियाँ देवनागरी में नही लिखी गई। पजाब सरकार के पटियाला सग्रहालय में ब्रजभाषा आदि की सैकडो कृतियाँ गुरुमुखी लिपि में है। किन्तु यह बात निर्विवाद है कि इस समय देवनागरी लिपि उत्तरभारत के लोगो की सास्कृतिक समृद्धि का इतना आवश्यक अग बन चुकी है कि एक के बिना दूसरे का विचार नही किया जा सकता। यदि रोमन या अन्य किसी लिपि के पक्ष में सरकार निश्चय कर ले तो भी उनके देवनागरी को छोड देने की कोई सभावना नही है। इस कठिन तथ्य को स्वीकार कर लेने पर देवनागरी लिपि का सुधार करने और उसको उन्नत करने की आवश्यकता तीव्र रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है।

अनुक्रमणिका